अर्हत् वचन

ARHAT VACANA

वर्ष – 19, अंक 3
Vol. - 19, Issue 3

जुलाई – सितम्बर 2007
July - September 2007

सिद्धक्षेत्र सिद्धवरकूट में विराजित भगवान ऋषभदेव की प्राचीन प्रतिमा

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर
KUNDAKUNDA JÑĀNAPĪṬHA, INDORE

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

म.प्र. के राज्यपाल महामहिम श्री बलराम जाखड़जी दिनांक 23.08.07 को प्रसिद्ध समाजसेवी एवं कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ के कोषाध्यक्ष/ट्रस्टी डॉ. अजितकुमारसिंह कासलीवाल का अभिनन्दन करते हुए। मध्य में डॉ. एम.सी. नाहटा

तुलनात्मक धार्मिक अध्ययन को प्रोत्साहित करने के क्रम में Fr. Alengaden Varghese द्वारा लिखित पुस्तक God in Flesh & Blood के विमोचन अवसर पर फादर वर्गीस का प्रशस्ति पत्र प्रदान कर अभिनन्दन करते प्रो. ए.ए. अब्बासी (निदेशक – कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

I.S.S.N. - 0971 - 9024 R.N.I. No. 50199/88

अर्हत् वचन
ARHAT VACANA

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ (देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर द्वारा मान्यता प्राप्त शोध संस्थान) , इन्दौर प्रकाशित शोध त्रैमासिकी

Quarterly Research Journal of Kundakunda Jñānapīṭha, INDORE
(Recognised by Devi Ahilya University, Indore)

वर्ष 19, अंक 3 जुलाई - सितम्बर2007
Volume 19, Issue 3 July - September 2007

मानद – सम्पादक
डॉ. अनुपम जैन
प्राध्यापक - गणित
शासकीय होलकर स्वशासी विज्ञान महाविद्यालय,
इन्दौर – 452 017 भारत
☎ 0731 – 2797790, 2545421

HONY. EDITOR
DR. ANUPAM JAIN
Professor of Mathematics
Govt. Holkar Autonomous Science College,
INDORE - 452 017 INDIA
e.mail : anupamjain3@rediffmail.com

प्रकाशक
देवकुमार सिंह कासलीवाल
अध्यक्ष – कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ,
584, महात्मा गांधी मार्ग, तुकोगंज,
इन्दौर 452 001 (म.प्र)

PUBLISHER
DEOKUMAR SINGH KASLIWAL
President - Kundakunda Jñānapīṭha
584, M.G. Road, Tukoganj,
INDORE - 452 001 (M.P.) INDIA

☎ (0731) 2545744, 2545421 (O) 2434718, 2539081, 2454987 (R)

स्वामी श्री दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम ट्रस्ट, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर की ओर से देवकुमारसिंह कासलीवाल द्वारा 584, महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर से प्रकाशित एवं **सुगन ग्राफिक्स**, LG - 11, ट्रेड सेन्टर, साऊथ तुकोगंज, इन्दौर से मुद्रित फोन : 4065518 **सम्पादक : डॉ. अनुपम जैन, इन्दौर**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्हत् वचन सम्पादक मंडल / Arhat Vacana Editorial Board, 2007 & 08

श्री नरेन्द्रप्रकाश जैन (अध्यक्ष)
सेवानिवृत्त प्राचार्य,
104, नई बस्ती,
फिरोजाबाद – 283 203

Shri Narendra Prakash Jain (President)
Retired Principal,
104, Nai Basti,
Firozabad - 283 203

प्रो. लक्ष्मी चन्द्र जैन
सेवानिवृत्त प्राध्यापक – गणित एवं प्राचार्य,
554, सराफा, दीक्षा ज्वेलर्स के उपर,
जबलपुर – 482 002

Prof. Laxmi Chandra Jain
Retd. Professor of Mathematics & Principal,
554, Sarafa, Upstairs Diksha Jewellers,
Jabalpur - 482 002

प्रो. राधाचरण गुप्त
सेवानिवृत्त प्राध्यापक – गणित,
आर-20, रसबहार कॉलोनी, लहरगिर्द,
झांसी – 284 003

Prof. Radha Charan Gupta
Retired Professor of Mathematics,
R-20, Rasbahar Colony, Lahargird
Jhansi - 284 003

डॉ. तकाओ हायाशी
प्राध्यापक - विज्ञान इतिहास,
विज्ञान एवं अभियांत्रिकी शोध संस्थान,
दोशीशा विश्वविद्यालय,
क्योटो – 610 – 03 जापान

Dr. Takao Hayashi
Professor - History of Science,
Science & Tech. Res. Institute,
Doshisha University,
Kyoto - 610-03 Japan

प्रो. जे. सी. उपाध्याय
प्राध्यापक – इतिहास,
172, रेडियो कॉलोनी,
इन्दौर – 452 001

Prof. J.C. Upadhyay
Professor of History,
172, Radio Colony,
Indore - 452 001

श्री सूरजमल बोबरा
निदेशक – ज्ञानोदय फाउन्डेशन,
9/2, स्नेहलतागंज,
इन्दौर – 452 003

Shri Surajmal Bobra
Director - Jñānodaya Foundation,
9/2, Snehlataganj,
Indore - 452 003

श्री जयसेन जैन
सम्पादक - सन्मति वाणी,
201, अमित अपार्टमेन्ट, 1/1 पारसी मोहल्ला,
इन्दौर – 452 001

Shri Jaisen Jain
Editor - Sanmativāṇī,
201, Amit Apartment, 1/1 Parasi Mohalla,
Indore - 452 001

डॉ. अनीता जैन
प्राचार्य - श्री कंवरतारा विज्ञान
एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
श्री नगर कॉलोनी, **मण्डलेश्वर,**
जिला - खरगोन

Dr. Anita Jain
Principal - Shri Kanwartara Science and
Commerce College,
Shri Nagar Colony, **Mandleshwar**
Dist. Khargaon

– सम्पादकीय पत्राचार का पता –

डॉ. अनुपम जैन
'ज्ञान छाया'
डी – 14, सुदामा नगर,
इन्दौर – 452 009
फोन : 0731 – 2797790

Dr. Anupam Jain
'Gyan Chhaya'
D - 14, Sudama Nagar,
Indore - 452 009
Ph. : 0731 - 2797790

email : anupamjain3@rediffmail.com & kundkund@sancharnet.in

लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों के लिये वे स्वयं उत्तरदायी हैं। सम्पादक अथवा सम्पादक मण्डल का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं हैं। इस पत्रिका से कोई भी आलेख पुनर्मुद्रित करते समय पत्रिका के सम्बद्ध अंक का उल्लेख अवश्य करें। साथ ही सम्बद्ध अंक की एक प्रति भी हमें प्रेषित करें। समस्त विवादों का निपटारा इन्दौर न्यायालयीन क्षेत्र में ही होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संहितासूरि पं. नाथूलाल जैन शास्त्री, इन्दौर

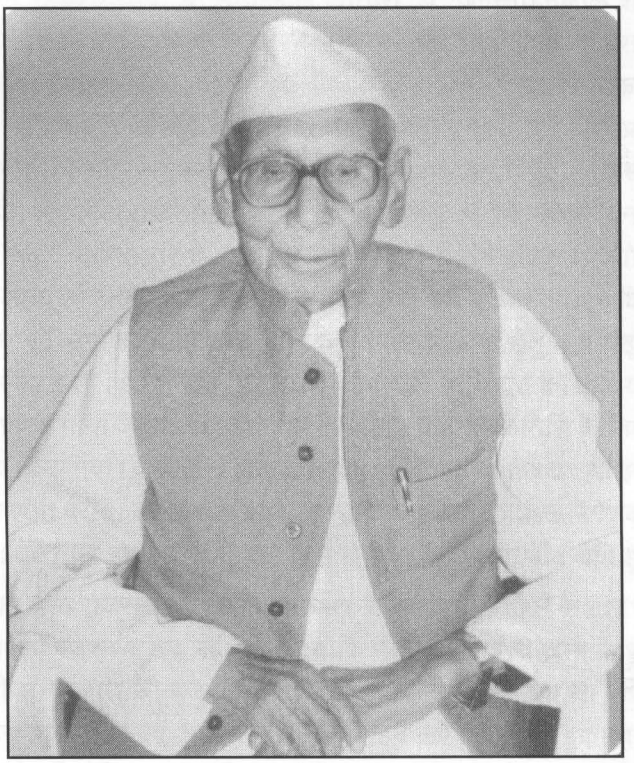

01.11.1911 - 09.09.2007

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ

इन्दौर की विनम्र श्रद्धांजलि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 19, अंक - 3, जुलाई-सितम्बर 2007, 3-6

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

संहितासूरि पं. नाथूलाल जैन शास्त्रीः विनम्र श्रद्धांजलि

■ अनुपम जैन *

बीसवीं शताब्दी में जैन साहित्य एवं संस्कृति की सेवा करने वाले विद्वानों में गुरु गोपालदास बरैया, पं. सुखलाल संघवी, डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, पं. मक्खनलाल शास्त्री, पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, पं. फूलचन्द जैन शास्त्री, पं. वंशीधर जैन व्याकरणाचार्य, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य, डॉ. दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य, डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, डॉ. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, पं. मोतीलाल कोठारी, पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री, डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल आदि का नाम अत्यन्त आदरपूर्वक लिया जाता है। विद्वानों की इस पीढ़ी के अन्तिम नक्षत्र थे संहितासूरि पं. नाथूलाल जैन शास्त्री। इस पीढ़ी के विद्वानों ने अभावों में रहकर भी कभी भी सिद्धान्तों से समझौता नहीं किया। उन्होंने अपने ज्ञान का सदुपयोग पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रंथों के संरक्षण, स्वाध्याय, मनन, चिन्तन, अनुवाद एवं आलोचनात्मक अध्ययन में किया। इसी का यह सुफल है कि बीसवीं शताब्दी में अनेक प्राचीन ग्रंथ हिन्दी/अंग्रेजी अनुवाद एवं समालोचनात्मक अध्ययन सहित प्रकाश में आ सके। संहितासूरि पं. नाथूलाल जैन शास्त्री ने जैन संस्कृत, ज्योतिष एवं पंचकल्याणक प्रतिष्ठा विधि का सूक्ष्म अध्ययन कर समाज के व्यापक हित में इसका उपयोग किया। देश के अधिकांश जैन साधु संघ एवं समाजजन विभिन्न धार्मिक/मांगलिक कार्यों हेतु शुभ मुहूर्त के चयन में आपका मार्गदर्शन प्राप्त करते रहे। अष्टान्हिक/दशलक्षण/दीपावली आदि पर्वों की तिथियों के निर्धारण में उनका निर्णय ही प्रमाणिक माना जाता रहा। इसी वर्ष वर्षायोग स्थापना की तिथि के निर्धारण में आपका निर्णय ही सर्वत्र मान्य किया गया। कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ कार्य परिषद् के उपाध्यक्ष तथा इसके अन्तर्गत संचालित कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ परीक्षा संस्थान के आप संस्थापक एवं जीवन पर्यन्त निदेशक रहे हैं। ऐसे मनीषी के दिनांक 9.9.2007 को हमारे बीच से चले जाने से समाज की अपूरणीय क्षति हुई है।

आपका जन्म राजस्थान प्रान्त के अन्तर्गत सवाई माधोपुर जिले के ग्राम सुरली (पो. ईसरदा) में हुआ था। आपका बचपन सुखद नहीं रहा। क्योंकि माता गेंदीबाईजी जन्म के समय ही साथ छोड़ गई तथा पिता श्री सुन्दरलाल जी बज का भी 1919 में ही निधन हो गया था। पिता के साथ 1917 में आपका इन्दौर आना हुआ एवं आप मल्हारगंज में रहने लगे। सर सेठ हुकुमचन्द छात्रावास में रहकर अपनी शिक्षा को गति देते हुए इस प्रतिभावान बालक ने दिगम्बर जैन कांच मन्दिर में पुस्तकालयाध्यक्ष तथा धार्मिक पाठशाला के शिक्षक का कार्यभार ग्रहण किया। 1933 से 1957 तक सर हुकुमचन्द संस्कृत महाविद्यालय में आपने शिक्षक तथा 1957 से 1994 तक प्राचार्य के पद पर सेवायें प्रदान की। 62 वर्ष की दीर्घावधि तक एक महाविद्यालय को सतत सेवायें देना स्वयं में एक रिकार्ड एवं आपके समर्पण का प्रतीक है।

आपका विवाह 1.12.1933 को मल्हारगंज के श्री सुन्दरलालजी पाटनी की सुपुत्री श्रीमती सुशीलाबाई जी से हुआ। जो स्वयं विशारद तक की शिक्षा प्राप्त थीं एवं सेवा निवृत्ति तक अध्यापिका के रूप में अपनी सेवायें देती रही। इस दम्पत्ति को 1 पुत्र तथा 6 पुत्रियों का भरा पूरा परिवार प्राप्त हुआ।

* मानद सचिव, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, 584 महात्मा गाँधी मार्ग, तुकोगंज, इन्दौर - 452 001

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुपुत्र श्री जिनेन्द्र कुमार जैन (उपनाम-लाला) सेवा निवृत्त बैंक अधिकारी हैं। पुत्रवधू श्रीमती तारा जैन अत्यन्त सेवाभावी सुगृहणी हैं। आदरणीय पं. जी को घर में पोते, पोतियों, नाती, नातिनें सभी **बाबा** नाम से सम्बोधित करते थे। आपकी धर्मपत्नी का निधन 1995 में हो गया था।

श्रमण संस्कृति के अनन्य उपासक होने के साथ ही आप राष्ट्र एवं राष्ट्रभाषा की प्रगति के लिये सतत् सचेष्ट रहे। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के योद्धा बनते हुए आपने आजीवन खादी पहनने का व्रत लिया तथा उसे जीवन पर्यन्त निभाया। घर-घर जाकर हिन्दी साहित्य की पुस्तकें बेची। जिससे हिन्दी का प्रचार हुआ। 1942 से 1949 तक आपने हिन्दी भाषी जैन पत्र **जैन हितेच्छु** का सम्पादन किया। 1971 से 1984 तक दिगम्बर जैन मालवा प्रान्तिक सभा बड़नगर एवं महावीर ट्रस्ट इन्दौर के मुख पत्र **सन्मति वाणी** का भी सम्पादन किया। 1984 से जीवन पर्यन्त आप सन्मति वाणी के परामर्श सम्पादक तथा विगत अनेक वर्षों से **परिणय प्रतीक** के परामर्शदाता रहे।

ज्योतिष के क्षेत्र में आपकी प्रावीण्यता एवं प्रतिष्ठा का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि गत 1934 से वे जीवन पर्यन्त **जैन तिथि दर्पण** का निर्माण कर प्रकाशन कराते रहे। समस्त जैन व्रतों एवं पर्वों का निर्धारण इसी तिथि दर्पण से होता है।

सामाजिक सेवा के क्षेत्र में अन्य अनेक दायित्वों के अतिरिक्त वे 5 के दशक से 1987 तक अ.भा.दि. जैन महासभा परीक्षा बोर्ड के मंत्री रहे। इसके अतिरिक्त 1979 में अ.भा.दि.जैन विद्वत् परिषद् के अध्यक्ष तदुपरान्त आजीवन संरक्षक, 1988 से कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ परीक्षा बोर्ड (परीक्षा संस्थान) के निदेशक, 1995 से कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ कार्य परिषद् के उपाध्यक्ष के रूप में आप अपनी अमूल्य सेवायें निष्पृह भाव से प्रदान करते रहे। आप वीर निर्वाण ग्रंथ प्रकाशन समिति इन्दौर, जैन सहकारी पेढ़ी इन्दौर (पूर्व अध्यक्ष एवं परामर्शदाता), वर्द्धमान विशांतिगृह, विद्यार्थी सहायता कोष, भगवान बाहुबली गोम्मटगिरी ट्रस्ट (उपाध्यक्ष), धन्नालाल रतनलाल काला ट्रस्ट, जवरचन्द फूलचन्द गोधा ग्रंथमाला तथा दिगम्बर जैन समाज-इन्दौर (संरक्षक) से विविध रूपों में जुड़े रहे हैं।

साहित्य सेवा के क्षेत्र में आपके द्वारा निम्नांकित पुस्तकों का सृजन/सम्पादन किया गया।

01. महिलाओं के प्रति, लाला हजारी लाल छगनलाल मित्तल, इन्दौर, 1933
02. दिगम्बर जैन मुनियों का आदर्श, इन्दौर, 26.11.34 (अनाम)
03. जैन विवाह विधि, इन्दौर, 1950
04. अध्यात्म पंचसंग्रह, उदासीन आश्रम, इन्दौर, 1940 (सम्पादित)
05. वीर निर्वाणोत्सव एवं नवीन बही मुहूर्त विधि, इन्दौर, 1950
06. अभिषेक पाठ, प्रस्तावना सहित, इन्दौर, 21-08-56
07. जैन विवाह संस्कार, श्री जवरचन्द फूलचन्द गोधा ग्रंथमाला, इन्दौर, 1970
08. तीर्थ यात्रा - भाग 1 - 8, श्री जवरचन्द फूलचन्द गोधा ग्रंथमाला आदि विभिन्न स्थानों से प्रकाशित, 1977 आदि।
09. कलिकुण्ड पार्श्वनाथ पूजन, हुकुमचन्द सोगानी, इन्दौर, 1977 (अनाम)
10. जिनपूजा/जिन मंदिर (सह लेखक - एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द), वीर निर्वाण ग्रंथ प्रकाशन समिति, इन्दौर, 1982

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

11. नैतिक शिक्षा, भाग 1-7, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर, प्रथम संस्करण, 1983 आदि अद्यतन सात संस्करण प्रकाशित।
12. प्रतिष्ठा प्रदीप,वीर निर्वाण ग्रंथ प्रकाशन समिति, इन्दौर, प्रथम संस्करण, 1990, द्वितीय संस्करण, 1998
13. आत्मधर्म - समाजधर्म, श्री जवरचन्द फूलचन्द गोधा ग्रंथमाला, इन्दौर, प्रथम संस्करण, 1994
14. धर्म, श्री जवरचन्द फूलचन्द गोधा ग्रंथमाला, इन्दौर, 1996
15. जैन संस्कार विधि, श्री वीर निर्वाण ग्रंथ प्रकाशन समिति, इन्दौर, प्रथम संस्करण, जनवरी 1998
16. मूलसंघ और उसका प्राचीन साहित्य, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर प्रथम संस्करण, 1999 I.S.B.N. - 81-86933 - 14 - X
17. प्राग्वैदिक - प्रागैतिहासिक जैन धर्म और उसके सिद्धान्त, दिगम्बर जैन युवक संघ, इन्दौर, प्रथम संस्करण, 2001
18. आत्मा से परमात्मा का विज्ञान (प्रकाशनाधीन)

इसके अतिरिक्त हिन्दी जैन साहित्य तथा पावागिरि इतिहास शीर्षक पुस्तकों की रचना का श्रेय भी पं. जी को दिया जाता है। किन्तु हमें ये पुस्तकें देखने का सौभाग्य नहीं मिला। क्रमांक 2 एवं 9 पर इंगित पुस्तकों में पं. जी का नाम लेखक के रूप में अंकित नहीं है। किन्तु परिजनों एवं बुजुर्गों ने बताया कि ये पं. जी की कृतियां हैं। नाम न देना पं. जी की निस्पृहता का प्रतीक है।

आपकी इन साहित्यिक एवं सामाजिक सेवाओं हेतु आपको प्रतिष्ठा दिवाकर, संहितासूरि, जैन सिद्धान्तमहोदधि, सिद्धान्ताचार्य, श्रुतयोगी आदि उपाधियों से विभूषित किया गया। आपकी निष्पृह सेवाओं हेतु विभिन्न स्थानों पर सम्मानित किया गया। इनमें से कुछ प्रमुख सम्मान निम्नवत् हैं -

1951 - अ.भा. दि. जैन महासभा द्वारा हिन्दी जैन साहित्य के लेखन हेतु।

1952 - मोदी नगर उ.प्र. में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर **'प्रतिष्ठा दिवाकर'** की उपाधि।

1974 - वीर निर्वाण भारती द्वारा तत्कालीन उपराष्ट्रपति महामहिम डॉ. वी.डी. जत्ती के कर कमलों से सम्मानित एवं **'जैन सिद्धान्ताचार्य'** की उपाधि से विभूषित।

1974 - दिगम्बर जैन समाज दिल्ली द्वारा तत्कालीन उद्योग मंत्री डॉ. शंकर दयाल शर्मा जी के कर कमलों से सम्मानित।

1978 - दिगम्बर जैन समाज इन्दौर द्वारा 5 जून को 50 विद्वानों की उपस्थिति में सम्मान।

1981 - तत्कालीन राष्ट्रपति महामहिम ज्ञानी जैलसिंहजी के कर कमलों से श्रवणबेलगोला में सम्मानित।

1993 - कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ द्वारा प्रतिष्ठा प्रदीप ग्रंथ पर **प्रथम कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार** से सम्मानित।

1995 - दिल्ली में गांधीनाथारंग जी दिगम्बर जैन जनमंगल प्रतिष्ठान, सोलापुर द्वारा राष्ट्रसंत आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज की उपस्थिति में कुन्दकुन्द पुरस्कार से सम्मानित एवं **'श्रुतयोगी'**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की उपाधि से विभूषित।

1998 - सराकोद्धारक संत उपा. ज्ञानसागरजी के सान्निध्य में 23-02-98 को **आचार्य शांतिसागर छाणी स्मृति श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार** से सम्मानित।

2006 - तोड़ा की गोठ (माणक चौक दि. जैन मन्दिर) द्वारा **प्रतिष्ठा मर्मज्ञ** की उपाधि से सम्मानित एवं नवनिर्मित संहितासूरि पं. नाथूलाल जैन शास्त्री हाल का लोकार्पण।

2007 - मुनि श्री प्रणामसागरजी महाराज के सान्निध्य में इन्दौर में श्रुत पंचमी (19.06.07) के अवसर पर **जैन मनीषी** की उपाधि से सम्मानित। यह पं. जी के जीवन का अन्तिम सार्वजनिक सम्मान रहा।

आदरणीय पं. जी का व्यक्तित्व बहुआयामी, जीवन सरलतापूर्ण एवं प्रेरक रहा है। हीरा भैया प्रकाशन से डॉ. नेमीचन्द जैन के सम्पादकत्व में प्रकाशित **तीर्थंकर** पत्रिका ने जून 1978 (वर्ष-8, अंक-3) में **पं. नाथूलाल शास्त्री विशेषांक** प्रकाशित किया था। यह विशेषांक पं. जी के व्यक्तित्व पर विस्तृत प्रकाश डालने के साथ ही जैन पं. परम्परा का संग्रहणीय दस्तावेज है। इसी विशेषांक में पं. जी ने पृष्ठ 17 पर आत्मकथन में समाज की स्थिति का चित्र खींचा है।

'पण्डितों को समाज में बहुत कम वेतन मिलता है। उनसे अधिक एक क्लर्क या मुनीम को मिलता है। किसी पंचायती संस्था में काम करने वाले पण्डितजी को सभी अपना भृत्य मानते हैं। सब को खुश रखे बिना वह अपने पद पर स्थिर नहीं रह पाते। मेरा तो व्यक्तिगत संस्था का काम होने से सारा जीवन एक ही जगह व्यतीत हो गया।'

सर सेठ हुकुमचन्द जी के खानदान के वरिष्ठतम सदस्य एवं कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ तथा दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम ट्रस्ट आदि दर्जनों संस्थाओं के अध्यक्ष श्री देवकुमारसिंह कासलीवाल (काका सा.) ने पं. जी को श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए कहा कि **'पं. जी का ज्योतिष विषयक ज्ञान अत्यन्त सटीक था। मैंने स्वयं पारिवारिक एवं सामाजिक कार्यों हेतु जब कभी कोई मुहूर्त पूछा वह सदैव बहुत ही फलप्रद रहा। उनके निधन से समाज ने एक विश्वस्त ज्योतिष मर्मज्ञ खो दिया है।'**

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ परिवार को इस जैन मनीषी के निधन से अपूरणीय क्षति हुई है।

पं. नाथूलालजी शास्त्री को सम्मानित करते हुए उपराष्ट्रपति श्री वी.डी. जत्ती (1974)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 19, अंक - 3, जुलाई - सितम्बर 2007, 7-22

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

वृक्ष एवं तीर्थंकर

■ नरेन्द्र नमि *

सारांश

जैन परम्परा में पर्यावरण संरक्षण एवं वृक्षों पर विपुल सामग्री उपलब्ध है। प्रत्येक तीर्थंकर के दीक्षा वन, कैवल्यवृक्ष एवं समवशरण के अन्तर्गत अष्टभूमियों के वर्णन में वृक्षों की प्रकृति के बारे में यथेष्ट सामग्री उपलब्ध है।

प्रस्तुत आलेख में प्रत्येक तीर्थंकर के कैवल्य वृक्ष का नाम, संस्कृत नाम, लैटिन नाम एवं औषधीय महत्व की विवेचना की गई है।

- सम्पादक

पर्यावरण संरक्षण को अब गंभीरता से लिया जा रहा है। पर्यावरण में परिवर्तन से जहाँ नदियों का जलग्रहण क्षेत्र घट रहा है वहीं भूमि का जलस्तर बहुत नीचे जाकर लुप्त होने की स्थिति में है। मौसम में तेजी से परिवर्तन होने के साथ फरवरी में तेज गर्मी एवं मार्च में ठंड अनुभव हो रही है। मौसम विज्ञानियों के अनुसार अमेरिका में गर्मियों में आये तीन बड़े चक्रवाती तूफानों का कारण भी यही है। मौसम परिवर्तन से जहां फसलों पर प्रभाव पड़ रहा है वहीं मानव स्वास्थ्य भी प्रभावित हुआ है। पर्यावरणविदों के अनुसार बढ़ रहे तापमान को सुधारने का उपाय है कि ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन न्यूनतन किया जावे तथा बड़े पैमाने पर वृक्षारोपण किया जाये।

पौधों, जन्तुओं (जिसमें मनुष्य सम्मिलित हैं) तथा उनके समस्त वातावरण में आपसी संबंध है। ये पारस्परिक क्रिया करते रहते हैं तथा एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं। वे दूसरे को प्रभावित करते हैं। यह तंत्र यदि संतुलित है तो स्वचालित एवं स्वावलम्बी होता है। हमारा Eco-System अनियोजित विकास के कारण प्रभावित हुआ है।

मानव जाति का अस्तित्व वृक्ष तथा वन पर अत्यंत निर्भर है। वन-वातावरण, जलचक्र, मृदा की स्थिरता को सुनिश्चित करते हैं। जंगली पशुओं को उचित भोजन तथा रहने के लिये उचित स्थान प्रदान करते हैं तथा वायु प्रदूषण को घटाने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

पर्यावरण दूषित न होने के लिए संविधान के अनुच्छेद 48-ए में निदेशात्मक सिद्धान्त (Directive Principles) बताये गये हैं तथा अनुच्छेद 51-ए (G) में बुनियादी कर्तव्य बताये गये हैं। जिसके अनुसार प्रत्येक भारतीय नागरिक को पर्यावरण की सुरक्षा और उसके विकास के लिए कर्त्तव्य परायण रहना चाहिए। ये प्रावधान 1976 में किये गये हैं।

Article 48 A - Protection and improvement of environment and safeguarding of forests and wild life. The state shall endeavour to protect and improve the enviroment and to safeguard the forests and wildlife of the country.

Article 51 A (G) reads thus -

To protect and improve the natural environment including forests, lakes, rivers and wildlife and to have compassion for living creatures.

भारतीय वन अधिनियम 1927 (क्रमांक 16/1927) में वन तथा वृक्ष को निम्नानुसार उल्लिखित किया है -

* महाप्रबंधक-उद्योग विभाग, म.प्र. शासन, निवास : बी-120, विद्या नगर, होशंगाबाद रोड, भोपाल (म.प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'वन' एक ऐसा विस्तीर्ण भूभाग है जो वृक्षों से तथा उसमें उगने वाले वृक्षों से ढ़का हुआ रहता है और कभी-कभी चारागाह में मिला जुला भूभाग रहता है - यह परिभाषा ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी शब्द कोश के आधार पर - लक्ष्मण इच्छाराम विरुद्ध डिवीजनल फॉरेस्ट ऑफिसर के मामले में नागपुर हाईकोर्ट ने (ए.आई.आर. 1953 नागपुर 51) दी है।

'वृक्ष' - भारतीय वन अधिनियम 1927 धारा 2 (7) के अनुसार वृक्ष में सम्मिलित हैं ताड़, बांस, ठूठ, झाड़ी, लकड़ी तथा बेंत प्रजाति।

'वृक्ष' - म.प्र. वृक्षों का परिरक्षण (नगरीय क्षेत्र) अधिनियम 2007 (म.प्र. अधिनियम क्रमांक 20 सन् 2001) की धारा 2 (ख) के अनुसार वृक्ष से अभिप्रेत है कोई ऐसा काष्ठीय पौधा जिसकी शाखायें तने या काय से निकलती हैं तथा जो तने या काय पर आलंबित हो और जिसके तने या काय का व्यास भूमितल से 2 मीटर से कम न हो।

जैन साहित्य में वनों एवं वृक्षों का वर्णन है। लेकिन जैन तीर्थंकरों ने जिस वन में दीक्षा ग्रहण की उसी दीक्षावन के विशिष्ट वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त किया है। तीर्थंकरों के समवशरण का जो मनोहारी वर्णन है उनकी अष्ट भूमियों में तीसरी, चौथी तथा छठवीं भूमि के वन तथा वृक्षों के महत्व को दर्शाया गया है।

मंगलाष्टक में जम्बूवृक्ष, शाल्मली वृक्ष, चैत्यवृक्ष पर स्थित जिन चैत्यालय से मंगल कामना की गई है।

ज्योतिर्व्यन्तर-भावनामरगृहे मेरौ कुलाद्रौ तथा
जम्बू-शाल्मलि चैत्यशाखिषु तथा वक्षार रुप्यादिषु।
इष्वाकारगिरौ च कुण्डलनगे द्वीपे च नन्दीश्वरे
शैले ये मनुजोत्तरे जिनगृहाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥7॥

इसी प्रकार दशलक्षणधर्म पूजा में अपनी सुगंध से उर्ध्वलोक को सुगन्धित करने वाले मन्दार, कुन्द, मौलिसिरी (वकुल), कमल और पारिजात का वर्णन किया गया है।

मन्दार-कुन्द बकुलोत्पल-पारिजातैः
पुष्पैः सुगन्ध सुरभीकृतमूर्ध्वलोकैः।

कल्पद्रुम (समवशरण ही कल्पद्रुम है) विधान में तीर्थंकरों के अंतरंग और बहिरंग वैभव के साथ समवशरण का मनोहारी वर्णन संयोजित है। इसमें अष्टभूमि पूजन, चैत्यवृक्ष, कल्पवृक्ष, सिद्धार्थवृक्ष, मानस्तम्भ तथा जिन स्तूप पूजन का समावेश है। अष्ट भूमियां हैं - 1. चैत्यप्रासाद भूमि, 2. खातिका भूमि, 3. लता भूमि, 4. उपवन भूमि, 5. ध्वजा भूमि, 6. कल्पवृक्ष भूमि, 7. भवन भूमि एवं 8. श्रीमंडप भूमि।

भगवान तीर्थंकरों के समवशरण में अष्ट भूमियों में से तीसरी भूमि लता भूमि है जो विविध लताओं से शोभित है। चौथी भूमि उपवन भूमि है जिसमें चैत्यवृक्ष हैं। छठवीं भूमि कल्पवृक्ष भूमि है इसी भूमि में सिद्धार्थ वृक्ष है।

उपवन भूमि :-

पूर्व दिशा	-	नन्दनवन, अशोकवन
दक्षिण दिशा	-	सप्तच्छदवन
पश्चिम दिशा	-	चंपकवन
उत्तर दिशा	-	आम्रवन

चैत्यवृक्ष जिन प्रतिमा युक्त हैं

पूर्व दिशा	-	अशोक चैत्य तरु
दक्षिण दिशा	-	सप्तच्छद चैत्य तरु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पश्चिम दिशा - चंपक चैत्य तरु

उत्तर दिशा - आम्रवन चैत्य तरु

कल्पवृक्ष भूमि – चारों दिशाओं में सिद्धार्थवृक्ष पर जिन प्रतिमाजी हैं।

कल्पवृक्ष - 1. पानांग, 2. तूर्यांग, 3. भूषणांग, 4. वस्त्रांग, 5. भोजनांग, 6. आलयांग, 7. दीपांग, 8. भाजनांग, 9. मालांग, 10. तेजांग। इसी भूमि में सिद्धार्थ वन हैं -

सिद्धार्थ वन :-

आग्नेय दिशा - मेरु भूप तरु

नैऋत्य दिशा - मंदार भूप तरु

वायव्य दिशा - संतानक भूप तरु

ईशान दिशा - पारिजात भूप तरु

जिस वन में जाकर तीर्थंकरों ने दीक्षा ली उसे दीक्षावन तथा जिस वृक्ष के नीचे दीक्षा धारण करते हैं उसे दीक्षा वृक्ष कहते हैं। चौबीस तीर्थंकरों के दीक्षावन निम्नानुसार हैं - 1. आदिनाथ (सिद्धार्थ), 2. अजितनाथ (सहेतुक), 3. सम्भवनाथ (सहेतुक), 4. अभिनन्दन नाथ (उग्रवन), 5. सुमतिनाथ (सहेतुक), 6. पद्मप्रभ (मनोहर), 7. सुपार्श्वनाथ (सहेतुक), 8. चंद्रप्रभ (सर्वर्तुक/सर्वार्थ), 9. पुष्पदंत (पुष्प/पुष्पक), 10. शीतलनाथ (सहेतुक), 11. श्रेयांसनाथ (मनोहर), 12. वासुपूज्य (मनोहर), 13. विमलनाथ (सहेतुक), 14. अनन्तनाथ (सहेतुक), 15. धर्मनाथ (शालि/शाल), 16. शांतिनाथ (आम/सहस्राम्र), 17. कुंथुनाथ (सहेतुक), 18. अरहनाथ (सहेतुक), 19. मल्लिनाथ (शालि तथा प्रतिष्ठा रत्नाकर तथा चौबीसी पुराण में श्वेतवन), 20. मुनिसुव्रत (नीलवन), 21. नमिनाथ (चैत्रवन/चित्रवन), 22. नेमिनाथ (सहस्राम्र), 23. पार्श्वनाथ (अश्वत्थवन/अश्ववन), 24. महावीर (षण्डवन तथा प्रतिष्ठा रत्नाकर में ज्ञातृ (नाथ) वन)।

तीर्थंकरों ने जिस वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त किया उस वृक्ष को कैवल्य वृक्ष कहा गया है। विभिन्न ग्रंथों में दिये गये वृक्षों को निम्न तालिका में दर्शाया गया है।

क्रं.	तीर्थंकर	उत्तर पुराण	चौबीसी पुराण	भाषावचनिका	प्रतिष्ठा रत्नाकर	पंच कल्याणक प्रतिष्ठा
1.	आदिनाथ	--	--	जैन तत्वविद्या	वट	न्यग्रोध
2.	अजितनाथ	सप्तपर्ण (छतिवन)	सप्तपर्ण	सप्तपर्ण	सप्तच्छद	सप्तपर्ण
3.	सम्भवनाथ	शाल्मलि (सेमर)	शाल	शाल	साल	शाल्मलि
4.	अभिनन्दननाथ	असन (बीजक)	शाल	सरल	साल	असन
5.	सुमतिनाथ	प्रियंगु	प्रियंगु	प्रियंगु	प्रियंगु	प्रियंगु
6.	पद्मप्रभ	--	--	प्रियंगु	प्रियंगु	प्रियंगु
7.	सुपार्श्वनाथ	शिरीष	शिरीष	शिरीष	श्रीखंड (सिरस)	शिरीष
8.	चंद्रप्रभ	नागवृक्ष	नाग	नागवृक्ष / नागकेशर	नागवृक्ष	नाग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

9.	पुष्पदंत	नागवृक्ष	नाग	शाल	साल	अक्ष (बहेड़ा)
10.	शीतलनाथ	बिल्व	--	अक्ष (बहेड़ा)	पलाश	धूलीपलाश (बेल)
11.	श्रेयांसनाथ	तुम्बुर	तुम्बुर	तेदुं	तिन्दुक	तेन्दु (तुम्बूर)
12.	वासुपूज्य	कदम्ब	कदम्ब	पाटला	पाटल	कदम्ब (पाटल)
13.	विमलनाथ	जामुन	जामुन	पाटल/कदम	जम्बू	जम्बू
14.	अनन्तनाथ	पीपल	पीपल	पीपल	पीपल	पीपल
15.	धर्मनाथ	सप्तच्छद	सप्तच्छद	दधिपर्ण/कैंथ	दधिपर्ण	दधिपर्ण (सप्तच्छद)
16.	शांतिनाथ	नन्द्यावर्त वृक्ष	नन्द्यावर्त	नन्दी	नन्दी	नन्द्यावर्त
17.	कुंथुनाथ	तिलक	तिलक	तिलक	तिलक	तिलक
18.	अरहनाथ	आम्र	माकन्द आम्र	आम्र	आम्र	आम्र
19.	मल्लिनाथ	अशोक	अशोक	अशोक	अशोक	अशोक (कंकेली)
20.	मुनिसुव्रत	चम्पक	चम्पक	चम्पक/चम्पा	चम्पा	चम्पक
21.	नमिनाथ	बकुल	मौलिश्री बकुल	बकुल (मौलिश्री)	मौलसिरी (बकुल)	बकुल
22.	नेमिनाथ	बांस	वंश	मेषश्रृंग (गुडमार)	बांस	मेषश्रृंग
23.	पार्श्वनाथ	देवदारु	आम्र	धब/धौ	धव	धव (देवदारु)
24.	महावीर	शाल	सागौन	शाल	साल	शाल्मलि (शाल)

अब हम क्रमशः चौबीस तीर्थंकरों के दीक्षावन तथा कैवल्यवृक्ष के आगमिक संदर्भों एवं उनके आधुनिक वनस्पति विज्ञानियों में प्रचलित नामों (Botanical Names) को संकलित करेंगे। इसी श्रृंखला में हमने संस्कृत भाषा में कैवल्य वृक्षों के वर्णनों को भी संकलित किया है तथा इन पौधों के औषधीय महत्व को भी रेखांकित किया है। जैनायुर्वेद के ग्रंथों तथा इन पौधों के औषधीय महत्व पर व्यापक गहन अनुसंधान अपेक्षित है।

1. आदिनाथ भगवान

मौनी ध्यानी स निर्मानो देशान् प्रविहरन् शनै :।
पुरं पुरिमतालाख्यं सुधीरन्येद्युरासदत् ॥218॥
नात्यासन्नविदूरेऽस्मादुद्याने शकटाह्वये।
शुचौ निराकुले रम्ये विविक्तेऽस्थाद् विजन्तुके ॥219॥
न्यग्रोधपादपस्याधः शिलापट्टं शुचिं पृथुम्।
सोऽध्यासीनः समाधानमधाद् ध्यानाय शुद्धधीः॥220॥
तत्र पूर्वमुखं स्थित्वा कृतप ल्यङ्कबन्धनः।
ध्याने प्रणिदधौ चित्तं लेश्याशुद्धिं परां दधत् ॥221॥ आदिपुराण भाग-1, पर्व -20

पुरिमताल नगर के समीप शकट नामक उद्यान जो पवित्र, आकुलता रहित, रमणीय, एकान्त और जीवरहित था, में भगवान ठहर गये। भगवान ने वहाँ वट वृक्ष के नीचे एक पवित्र तथा लम्बी चौड़ी शिला पर पूर्व दिशा की ओर मुखकर पद्मासन में बैठकर ध्यान में अपना चित्त लगाया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वट वृक्ष

वटो: रक्तफल: श्रृंङ्गी न्यग्रोध: स्कन्धजो ध्रुव: ।

क्षीरी वैश्रवणो वासो बहुपादो वनस्पति: ॥1॥ भाव प्रकाश निघण्टु: (वटादि वर्ग), पृ.–513

वट, रक्तफल, श्रृङ्गी, न्यग्रोध, स्कन्धज, ध्रुव, क्षीरी, वैश्रवण, वास, बहुपाद, वनस्पति ये सब बरगद के संस्कृत नाम हैं। लेटिन में Ficus bengalensis, fam. moraceae कहते हैं।

यह सब प्रांतों में उत्पन्न होता है। इसका वृक्ष बहुत विशाल होता है।

वट: शीतो गरुर्ग्राही कफपित्तव्रणापह: ।

वर्ण्यो विसर्पदाहघ्न: कषायो योनिदोषहृत ॥2॥ भा.प्र.नि., पृ.–513

बरगद – कषायरसयुक्त, शीतल, गुरु, ग्राही, शरीर के वर्ण को उत्तम करने वाला एवं कफ, पित्त, व्रण, विसर्प, दाह और योनि सम्बंधी दोषों को दूर करता है।

2 – अजितनाथ

माघे मासि सिते पक्षे रोहिण्यां नवमीदिने ।

सहेतुके वने सप्तपर्णद्रुमसमीपग: ॥38॥ उत्तरपुराण, पृ.–4

भगवान अजितनाथ ने सहेतुक वन में सप्तपर्ण वृक्ष के समीप दीक्षा ली। दीक्षा लेते ही मनः पर्ययज्ञान से सम्पन्न हो गये।

सप्तपर्ण: (छतिवन–सतौना)

सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विषमच्छद: ॥74॥

सप्तपर्णो व्रणश्लेश्म वातकुष्ठास्तजन्तुजिम् ।

दीपन: श्वासगुल्मघ्न: स्निग्श्रोष्णस्तु वर: सर: ॥75॥ भा.प्र.नि., पृ.–546

सप्तपर्ण, विशालत्वक्, शारद तथा विषमच्छद संस्कृत नाम हैं। Alstonia scholaris R,Br लेटिन में कहते हैं।

छतिवन का वृक्ष प्रायः सभी आर्द्र प्रान्तों में पाया जाता है। इसका वृक्ष सुन्दर, विशाल, सीधा, सदैव हरा रहने वाला एवं क्षीरयुक्त होता है। इसकी छाल का उपयोग ज्वर, विषभ ज्वर, अतिसार प्रवाहिका, चर्मरोग एवं कृमि में किया जाता है।

3 – संभवनाथ

सिद्धार्थ शिबिकामूढां देवैरारूह्य निर्गत: ।

सहेतुकवने राज्ञां सहस्रेणाप संयमम् ॥37॥

अथमौनव्रतेनायं छदमस्थोऽब्देषु शुद्धधी: ।

द्विसप्तसु गते दीक्षावन शालतरोरध: ॥40॥ उत्तरपुराण, पृ.–17

भगवान संभवनाथ सहेतुक (दीक्षा) वन में पहुंचकर शाल्मली वृक्ष के नीचे अनन्त चतुष्टय को प्राप्त हुये।

शाल्मली, शाल्मलि:

शाल्मलिस्तु भवेन्मोचा पिच्छिक पूरणीति च ।

रक्तपुष्पा स्थिरायुश्र्व कण्टाटया च तूलिनी ॥54॥

शाल्मली शीतला स्वाद्वी रसे पाके रसायनी ।

श्लेष्मला पित्तवातास्नहारिणी रक्तपित्तजित् ॥55॥ भा.प्र.नि., पृ.– 537

शाल्मलि, मोचा, पिच्छिका, पूरणी, रक्तपुष्प, स्थिरायु, कण्टकाटया तथा तूलिनी, सेमर के संस्कृत नाम हैं। लेटिन नाम Bobbax Malabaricum De.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देश के प्राय: सब प्रान्तों के वन, उपवन, वाटिकाओं में उत्पन्न होता है। इसके वृक्ष बहुत विशाल और मोटे हुआ करते हैं।

सेमर रस तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, शीतल, रसायन, कफजनक एवं पित्त, वात, रक्तविकार या वातरक्त तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है।

4 – अभिनन्दन नाथ

हस्तचित्राख्ययानाधिरूढोऽग्रोद्यानमागत:।
माघे सिते स्वर्गभर्क्षे द्वादश्यामपराह्णग: ॥52॥
अथ मौनव्रतेनेते छाद्मस्थेऽष्टादशाब्दके।
दीक्षावनेऽसनक्ष्मामूले षष्ठोपवासिन:॥55॥ उत्तर पुराण, पृ.–22 एवं 23

भगवान अग्र उद्यान (दीक्षा वन) में असनवृक्ष के नीचे ध्यानारूढ हुये।

असन (बीजक:/विजयसार)

बीजक: पीतसारश्च पीतशालक इत्यपि।
बन्धूकपुष्प: प्रियक: सर्जकश्चासन: स्मृत: ॥28॥
बीजक: कुष्ठवीसर्पश्वित्रमेहगुद किमान्।
हन्ति श्लेष्मास्रपित्तञ्च त्वच्य: केश्यो रसायन : ॥29॥

बीजक, पीतसार, पीतशालक, बन्धूकपुष्प, प्रियक, सर्जक और असन विजयसार के संस्कृत नाम हैं। इसका लेटिन नाम Terminalia tomentosa है।

यह दक्षिण भारत, बिहार और पश्चिमी प्रायद्वीप में होता है। इसका वृक्ष सुन्दर, बहुत बड़ा किन्तु अचिरस्थायी होता है।

विजयसार त्वचा के लिए हितकारी, बालों को उत्तम बनाने वाला, रसायन एवं कुष्ठ, वीसर्प, श्वेतकुष्ठ, प्रमेह, गुदा के कृमि, कफ, रक्तविकार, पित्त या रक्तपित्त को दूर करने वाला है।

5 – भगवान सुमतिनाथ

दीक्षां षष्ठोपवासेन सहेतुक वनेऽगृहीत्।
सिते राज्ञां सहस्रेण सुमतिर्नवमीदिने ॥70॥
विशतिं वत्सरान्नीत्वा छद्मस्थ प्राक्तने वने।
प्रियङ् गुभूरूहोऽधस्तादुपवासद्वयं श्रित: ॥74॥ उत्तर पुराण, पृ.– 30

सहेतुक वन में प्रियंगु वृक्ष के नीचे दो दिन का उपवास लेकर योग धारण किया।

प्रियंगु

प्रियङ्गु: फलिनी कान्ता लता च महिलाऽऽह्वया। 101
गुन्द्रा गन्धफला श्यामा विष्वक्सेनाङ्गु नाप्रिया।
प्रियङ्गु शीतला तिक्ता तुवराऽनिल पित्तहृत्। 120
रक्तातीसारदौर्गन्ध्य स्वेददाहज्वरापहा।
(वान्तिभ्रान्तयतिसारध्नी वक्त्रजाडयविनाशिनी)।
गुल्मतृड्विषमोहध्नी तद्वद् गन्धप्रियङ् का। भा.प्र.नि., पृ.– 248

प्रियंगु, फलिनी, कान्ता, लता, महिलाह्वया (स्त्रीवाचक सभी शब्द), गुन्द्रा गन्धफला, श्यामा, विष्वक्सेनङ्गना और प्रिया ये सब संस्कृत नाम प्रियंगु के हैं।

तीन प्रकार के प्रियंगु का वर्णन मिलता है। प्रियंगु, फूलप्रियंगु, गंधप्रियंगु, वुंडुड, बूढीघास, डइया, दहिया आदि हिन्दी नाम हैं तथा लेटिन में Callicarpa macrophylla vahl नाम है प्रियंगु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जंगलों के किनारे, घाट और ऊंची चढ़ाइयों तथा खुले हुये जंगल और परती भूमि में होता है। यह नेपाल, देहरादून के जलप्राय स्थानों, बंगाल तथा बिहार के अनेक स्थानों में पाया जाता है। अन्य प्रकार के प्रियंगु बलोचिस्तान एवं पश्चिमी प्रायद्वीप में पाया जाता है।

प्रियंगु तिक्त तथा कषाय रसयुक्त और शीतवीर्य होती है। यह वात पित्त, रक्तातिसार, दुर्गंध, पसीना, दाह, ज्वर, गुल्म, तृषा, विष और मोह इन सब रोगों को दूर करती है।

6 – भगवान पद्मप्रभ

निवृत्याख्यां समारूह्य शिविकांस मनोहरे।
वने षष्ठोपवासेन दीक्षां शिक्षामिवाग्रहीत्। 151 उत्तर पुराण, पृ.– 34
भगवान पद्मप्रभु ने मनोहर नाम के वन में दीक्षा ग्रहण की।

प्रतिष्ठा रत्नाकर, मुनि प्रमाणसागर एवं मुनि समतासागर के अनुसार भगवान पद्मप्रभु का दीक्षावृक्ष भी प्रियंगु है जिसका वर्णन किया जा चुका है।

7 – भगवान सुपार्श्वनाथ

सुपार्श्वो मौनमास्थाय छाद्मस्थ्ये नववर्षकः।
सहेतुकवने मूले शिरीषस्य द्वयुपोषितः ॥44॥ उत्तर पुराण, पृ.–42

सहेतुक वन में दो दिन के उपवास का नियम लेकर वे शिरीष वृष के नीचे ध्यानारूढ़ हुये।

शिरीषः (सिरस)

शिरीषो मण्डिलो भण्डी भण्डीरश्च कपीतनः।
शुष्कपुष्पः शुकतरुर्मृदुपुष्पः शुकप्रियः॥13॥
शिरीषो मधुरोऽनुष्णस्तिक्तश्च तवरो लघु :।
दोष शोथविसर्पघ्नः कासव्रणविषापहः ॥14॥ भा.प्र.नि., पृ.–58

शिरीष, माण्डिल, भण्डी, भण्डीर, कपीतन, शुकपुष्प, शुकतरु, मृदुपुष्प और शुकप्रिय ये सभी सिरस के संस्कृत नाम हैं। लेटिन नाम Albizzia Lebbeck Benth. है।

यह प्रायः सभी प्रान्तों में पाया जाता है। सिरस के वृक्ष बड़े–बड़े और सघन होते हैं।

सिरस मधुर, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, किन्चित उष्ण, लघु एवं वातादिक दोष, शोध, विसर्प, कास (खासी), व्रण तथा विष को दूर करने वाला है।

8 – भगवान चन्द्रप्रभ

दिनद्वियोपवासित्वा वने सर्वर्तुकाहये।
पौषे मास्यनुराधायामेकादश्यां महीभुजाम् ॥216॥
त्रीन मासान् जिनकल्पेन नीत्वा दीक्षावनान्तरे।
अधस्तन्नागवृक्षस्य स्थित्वा षष्ठोपवासभृत ॥223॥ उत्तर पुराण, पृ.–60

सर्वर्तुक वन (दीक्षा वन) में नागवृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर स्थिर हुये।

नागवृक्ष

नागपुष्पः स्मृतो नागः केशरो नागकेशरः।
चाम्पेयो नागकिञ्जल्कः कथितः काञ्चनाह्वयः ॥ भा.प्र.नि., पृ.–224

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नागपुष्प, नाग, केशर, नागकेशर, चाम्पेय, नागकिञ्जल्क तथा काञ्चनाह्य ये सब नागकेशर के वृक्षवाची हैं। लेटिन नाम Mesua Ferrea linn. Fam Guttiferae. है।

यह पूर्वी हिमालय, आसाम, ब्रम्हा, दक्षिण हिन्दुस्तान और पूर्व बंगाल के पहाड़ों पर पाया जाता है। इसको बगीचों में भी लगाया जा सकता है। इसका वृक्ष छोटा सुन्दर होता है और सदा हरा भरा रहता है।

नागपुष्पं कषायोष्णं रूक्षं लध्वामपाचनम् ॥70॥
ज्वरकण्डूतृषास्वेदच्छर्दिहृल्लासनाशनम्।
दौर्गन्ध्य कुष्ठवीसर्प कफपित्तविषापहम् ॥71॥ भा.प्र.नि., पृ.-230

नागकेशर का फूल कषायरसयुक्त, उष्णवीर्य, रूक्ष, लघु तथा आम को पचाने वाला होता है एवं यह ज्वर, खुजली, तृषा, पसीना, वमन, हृल्लास, दुर्गन्ध, कुष्ठ, कफ, पित्त और विष को दूर करने वाला होता है।

9 - भगवान पुष्पदंत

आरूह्य शिबिकां सूर्यप्रभाख्यां पुष्पके वने।
मार्गशीर्षे सिते पक्षे प्रतिपद्यपराह्णके ॥46॥
दिनद्वयोपवासः सन्नधस्तान्नागभूरूहः।
दीक्षावने विधूताधः प्राप्तानन्तचतुष्टयः ॥50॥

भगवान पुष्पक वन (दीक्षावन) में नाग वृक्ष के नीचे स्थित हुए और अनंतचतुष्टय को प्राप्त हुये। नागवृक्ष का वर्णन पूर्व में भगवान चन्द्रप्रभ के साथ किया जा चुका है।

10 - भगवान शीतलनाथ

लब्धलौकान्तिकस्तोत्रः प्राप्ततत्कालपूजनः।
शुक्रप्रभां समारूह्य सहेतुकवनान्तरे ॥44॥
छाद्मस्थ्येन समास्तिस्रो नीत्वा बिल्वद्रुमाश्रयः।
पोषकृष्ण चतुर्दश्यां पूर्वाषाढेऽपराह्ण गे ॥48॥ उत्तर पुराण, पृ.-74

सहेतुकवन में बेल के वृक्ष के नीचे दो दिन के उपवास का नियम लेकर विराजमान हुये।

बिल्वः (बेल)

बिल्वः शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि। भा.प्र.नि., पृ.-274

बिल्व शाण्डिल्य, मालूर तथा श्रीफल ये सब बेल के संस्कृत नाम हैं। लेटिन नाम Aegle marmelos corr. Fam. Rutaceae है।

यह आसाम, ब्रह्मा, बंगाल, बिहार, अवध, झेलम मध्य और दक्षिण हिन्दुस्तान तथा श्रीलंका में जंगली और प्रायः सभी स्थानों में एवं बागों में उत्पन्न होता है। इसका वृक्ष मध्यम आकार का 50 फुट से भी ऊंचा होता है।

बेल बहुत पवित्र माना जाता है। सूतिकागार के निर्माण में एवं सूतिका के पलंग की लकड़ी, बेल की लेने चरकादि में विधान है। सुश्रुत ने मेधायुष्कामीय अध्याय में विशिष्ट पद्धति से ऋग्वेदोक्त श्रीसूक्त के द्वारा बिल्व की आहुति आदि का विधान किया है जिससे अलक्ष्मी का नाश एवं आयुवृद्धि होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री फलस्तुवरस्तिक्तो ग्राही रूक्षोऽग्निपित्तकृत।
वातश्लेष्महरो बल्यो लघुरूष्णश्च पाचनः ॥13॥ भा.प्र.नि., पृ.-274

बेल कषाय तथा तिक्त रस युक्त, ग्राही, रूक्ष, अग्निवर्धक, पित्तकारक, वातकारक, वातकफनाशक, बलकारक, लघु, उष्णवीर्य तथा पाचक है।

11 - भगवान श्रेयांसनाथ

द्विसंवत्सरमानेन छाद्मस्थये गतवत्यसौ।
मुनिर्मनोहरोद्याने तुम्बुरद्रमसंश्रयः ॥51॥ उत्तर पुराण, पृ.-82

इस प्रकार छद्मस्थ अवस्था के दो वर्ष बीत जाने पर एक दिन महामुनि श्रेयांसनाथ मनोहर नामक उद्यान में दो दिन के उपवास का नियम लेकर तुम्बुर वृक्ष के नीचे बैठे।

तुम्बुर

तुम्बुरुः सौरभः सौरो वनजः सानुजोऽन्धकः ॥113॥ भा.प्र.नि., पृ.-56

तुम्बुरु, सौरभ, सौर, वनज, सानुज और अन्धक ये तुम्बुरु फल के नाम हैं। लेटिन नाम Zanthoxylum alatum Roxb. Fam. Rutaceae है।

यह हिमालय की गरम तराइयों में जम्मू से भूटान तक, खासिया पहाड़, टेहरी गढ़वाल, नागपहाड, विजिगापट्टम और गंजाम के पहाड़ों पर पाया जाता है। इसका वृक्ष झाड़ीदार या क्वचित छोटे वृक्षवत् रहता है।

तुम्बरुप्रथितं तिक्तं कटूपाकेऽपि तत्कटु।
रूक्षोष्ण दीपनं तीक्ष्णं रूच्यं लघुविदाहि च ॥114॥
वातश्लेष्माक्षिकर्णोष्ठिशिरोरुग्गुरुता कृमीन।
कुष्ठशूलारूचिश्वासप्लीहकृच्छ्राणि नाशयेत ॥115॥ भा.प्र.नि., पृ.-56

तुम्बुरु फल तिक्त तथा कटुरस युक्त है और विपाक में भी कटुरस युक्त है। यह रूक्ष, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, तीक्ष्ण, रुचिजनक, पाक में लघु और विदाही होता है। यह वात, श्लेष्म, नेत्र, कर्ण, ओष्ठ तथा शिर के रोगों को एवं गुरुता (शरीर का भारीपन), कृमि, कुष्ठ, शूल, अरुचि, श्वास, प्लीहा और मूत्राकृच्छ इन सब रोगों को भी दूर करता है।

12 - भगवान वासुपूज्य

शिबिकां देवसंरूढामारूह्य पृथिवीपतिः।
वने मनोहरोद्याने चतुर्थोपोषितं वहन् ॥37॥
कदम्ब वृक्षमूलस्थः सोपवासोऽप्राह्नके।
माघज्योत्स्नाद्वितीयायां विशाखर्क्षेऽभवज्जिनः ॥42॥ उत्तर पुराण, पृ.- 90

भगवान ने मनोहर नामक उद्यान में कदम्बर वृक्ष के नीचे बैठ कर उपवास का नियम लिया।

कदम्ब

कदम्बः प्रियको नीपो वृत्तपुष्पो हलिप्रियः। भा.प्र.नि., पृ.-495

कदम्ब, प्रियक, नीप, वृत्तपुष्प और हलिप्रिय ये सब संस्कृत नाम हैं। लेटिन नाम Anthocephalus Cadamba miq. Fam. Rubiaceae है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह हिमालय के निचले भागों में नेपाल से पूर्व की तरफ वर्मा तक तथा दक्षिण में उत्तरी सरकार तथा पश्चिमी घाट में होता है। सभी स्थानों पर बागों में लगाया हुआ पाया जाता है। कदम्ब का वृक्ष 40-50 फीट ऊंचा, बड़ा, छायादार होता है।

कदम्बो मधुरः शीतः कषायो लवणो, गरुः।
सरो विष्टम्भकृद्रूक्षः कफस्तन्यानिलप्रदः ॥ भा.प्र.नि., पृ.-495

कदम्ब-मधुर, कषाय तथा लवण रस युक्त, शीतल, गुरु, सारक, रूक्ष, वातविष्टम्भ (वायु का न खुलना) को उत्पन्न करने वाला, कफकारक, दुग्धवर्धक और वायुजनक होता है।

13 - भगवान विमलनाथ

देवदत्तां समारूह्य शिबिकाममरैवृतः।
विभुः सहेतुकोद्याने प्राव्राजीद्द्युपवासभाक ॥
त्रिवत्सरमिते याते तपस्येष महामुनिः।
निजदीक्षावने जम्बूद्रुममूले द्युपोषितः ॥44॥ उत्तर पुराण, पृ.-100

भगवान सहेतुकवन उद्यान में (दीक्षावन) दो दिन के उपवास का नियम लेकर जामुन के वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ हुये।

जम्बू (जामुन)

जामुन की कई जातियां होती हैं लेकिन श्रेष्ठ राज जामुन है अतः उसका वर्णन किया गया है।

फलेन्द्रा कथिता नन्दी राजजम्बूर्महा फला।
तथा सुरभिपत्रा च महाजम्बूरपि स्मृता। भा.प्र.नि., पृ.-570

फलेन्द्रा, नदी, राजजम्बू, महाफला, सुरभिपत्रा और महाजम्बू ये सब संस्कृत नाम हैं। लेटिन नाम Eugenia Jambolana Lam. Fam. Myrtaccae है।

यह अत्यंत शुष्क भागों को छोड़कर सब प्रांतों में पाया जाता है। इसका वृक्ष बड़ा होता है और वह सदा हरा भरा रहता है।

राजजम्बू फलं स्वादु विष्टम्भि गुरु रोचनम् ॥69॥ भा.प्र.नि., पृ.-570

बड़ी जामुन का फल-स्वादिष्ट, विष्टम्भक, गुरु तथा रोचक होता है।

14 - भगवान अनन्तनाथ

सुरैस्तृतीयकल्याणपूजां प्राप्याधिरूढ़वान्।
यानं सागरदत्ताख्यं सहेतुकवनान्तरे ॥31॥
संवत्सरद्वये यातेछाद्मस्थ्ये प्राक्तने वने।
अश्वत्थपादपोपान्ते कैवल्यमुदपीपदत् ॥35॥ उत्तर पुराण, पृ.-123

भगवान को सहेतुक वन में अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष के नीचे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

अश्वत्थः (पीपल)

बोधिद्रुः पिप्पलोऽश्वत्थश्चलपत्रो गजाशनः। भा.प्र.नि., पृ.-513

बोधिद्रु, पिप्पल, अश्वत्थ, चलपत्र और गजाशन ये सब पीपल के संस्कृत नाम हैं। लेटिन Ficus religiosa linn Fam. MORACEAE है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीपल के वृक्ष देश के प्रायः सभी प्रान्तों में लगाये हुये पाये जाते हैं। इसका वृक्ष बहुत ऊंचा होता है और खूब फैलता है। पीपल वृक्ष पवित्र माना जाता है।

पिप्पलो दुर्जरः शीतः पित्तश्लेष्मव्रणास्रजित्।
गुरुस्तुवरको रूक्षो वर्ण्यो योनिविशोधनः ॥3॥ भा.प्र.नि., पृ.-513

पीपल कषायरसयुक्त, कठिनता से पचने वाला, शीतल, गुरु, रूक्ष, वर्ण को उत्तम बनाने वाला, योनि का शोधन करने वाला एवं पित्त, कफ, व्रण तथा रक्त विकार को दूर करने वाला है।

15 - भगवान धर्मनाथ

शिबिकां नागदत्ताख्यामारूह्य सुरसत्तमैः।
सह शालवनोद्यानं गत्वषष्ठोपवासवान् ॥38॥
तथैकवर्षच्छद्मस्थकालेऽतीते पुरातने।
वने सप्तच्छदस्याधः कृतषष्ठोपवासकः ॥42॥ उत्तर पुराण, पृ.-130

शालवन के उद्यान में (पुरातन वन में) सप्तच्छद वृक्ष के नीचे दो दिन के उपवास का नियम लेकर योग धारण किया।

सप्तच्छद वृक्ष

सप्तपर्णः पत्रावर्णः शुक्तिपर्णः सुपर्णकः।
सप्तच्छदो गुच्छपुष्पोऽयुग्मपर्णो मुनिच्छदः ॥35॥
बृहत्त्वग्बहुपर्णश्च तथा शाल्मलिपत्रकः।
मदगन्धो गन्धिपर्णो विज्ञेयो वङ्गि भूमितः ॥36॥ राजनिघण्टु, पृ.-401

सप्तपर्ण, पत्रापर्ण, शुक्तिपर्ण, सुपर्णक, सप्तच्छद, गुच्छपुष्प, अयुग्मपर्ण, मुनिच्छद, बृहत्वक्, बहुपर्ण, शाल्मलिपत्रक, मदगन्ध तथा गन्धिपर्ण, ये सब छतिवन के तेरह नाम हैं।

सप्तपर्ण (सप्तच्छद) का वर्णन पूर्व में भ. अजितनाथ के साथ किया जा चुका है।

16 - भगवान शांतिनाथ

बहुभिर्मुनिभिः सार्द्धं श्रीमान् चक्रायुधादिभिः।
सहस्राम्रवनं प्राप्य नन्द्यावर्ततरोरधः ॥481॥ उत्तर पुराण, पृ.-209

भगवान ने सहस्राम्रवन में प्रवेश किया और नन्द्यावर्त वृक्ष के नीचे बेला के उपवास का नियम लेकर वे विराजमान हो गये।

नन्द्यावर्त/तगर

राजकीय आयुर्वेद विद्यालय झांसी से सम्पर्क करने पर उनके द्वारा बतलाया गया कि तगर ही नन्द्यावर्त है।

कालानुसार्य तगरं कुटिलं नहुषं नतम्।
अपरं पिण्डतगरं दण्डहस्ती च बर्हिणम् ॥28॥
तगरद्वयमुष्णं स्यात्स्वादु स्निग्धं लघु स्मृतम्।
विषापस्मारशूलाक्षिरोगदोषत्रयापहम् ॥29॥ भा.प्र.नि., पृ.-199

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों प्रकार के तगर उष्णवीर्य स्वादिष्ट, स्निग्ध तथा लघु होते हैं। यह विष, अपस्मार (मिर्गी रोग), शूल, नेत्ररोग तथा त्रिदोष को दूर करने वाले होते हैं इस प्रकार का उल्लेख कूर्परादिवर्ग - भावप्रकाश निघण्टु में मिलता है।

इसके वृक्ष हिमालय पहाड़ के साधारण भाग में काश्मीर से भूटान तक 4 हजार से 12 हजार फीट की ऊंचाई पर तथा खासिया के पहाड़ों पर 4 से 6 फीट की ऊंचाई पर बहुत पाये जाते हैं।

17 – भगवान कुंथुनाथ

स्वयं सम्प्राप्य देवेन्द्रैः शिविकां विजयाभिधाम्।
आरूह्यामरसंवाह्यां सहेतुकवनं प्रति ॥38॥
निजदीक्षावने षष्ठेनोपवासेन शुद्धिभाक्।
तिलक द्रुममूलस्थश्चैत्रज्योत्स्नापराह्नके ॥42॥ उत्तर पुराण, पृ.–215

भगवान सहेतुक वन (दीक्षा लेने के वन) में तिलक वृक्ष के नीचे विराजमान हुये।

तिलक वृक्ष

तिलकः क्षुरकः श्रीमान्पुरुषश्छिन्नपुष्पकः ॥ भा.प्र.नि., पृ.–505

तिलक, क्षुरक, श्रीमान, पुरुष, छिन्न पुष्पक ये सब तिलक के संस्कृत नाम हैं। लेटिन Wendlandia exerta DC fam. Rubiaceae. है।

यह हिमालय के उष्ण प्रदेशीय शुष्क जंगलों में चेनाब से नेपाल तक 4000 फीट की ऊंचाई तक एवं उड़ीसा मध्यभारत कोंकण एवं उत्तरी डेक्कन में पाया जाता है। यह खुली हुई और छोटी-छोटी वनस्पतियों से रहित भूमि जैसे नालों के ढालों पर अधिक होते हैं। इसके वृक्ष सुन्दर, झुके हुये तथा छोटे होते हैं। पुष्पकाल (मार्च - अप्रैल) में वृक्ष का शिखर चांदनी से ढका मालूम होता है।

तिलकः कटुकः पाके रसे चोष्णो रसायनः।
कफकुष्ठक्रिमीन्वस्तिमुखदन्तगदान्हरेत् ॥56॥ भा.प्र.नि., पृ.–505

तिलक पाक तथा रस में कटु, उष्ण, रसायन एवं कफ, कुष्ठ, कृमि, वस्ति-मुख-दन्त संबंधी रोगों को दूर करने वाला है।

निघण्टुओं में वर्णित इस तिलक वृक्ष के बारे में अभी तक किसी को पता नहीं था कि यह वृक्ष कैसा होता है तथा इसका लेटिन नाम क्या है। सर्वप्रथम ठा. बलवंत सिंह जी ने अपनी पुस्तक बिहार की वनस्पतियां (पृष्ठ 68) में अनेक प्रमाणों के आधार पर तिलक को Wendlandio exerta DC सिद्ध किया है तथा इसका वैज्ञानिक वर्णन किया है। इसके जंगलों में प्रचलित स्थानिक नाम, शास्त्रीय परिचयात्मक पर्याय तथा प्रचलित गुणधर्म सभी आधारों से यह तिलक सिद्ध होता है।

18 – भगवान अरहनाथ

शिविकां वैजयन्त्याख्यां सहेतुकवनं गतः।
दीक्षां षष्ठोपवासेन रेवत्यां दशमीदिने ॥33॥
ततो दीक्षावने मासे कार्तिके द्वादशीदिने।
रेवत्यां शुक्लपक्षेऽपराह्णे चूततरोरधः ॥37॥ उत्तर पुराण, पृ.–220

भगवान सहेतुक वन (दीक्षावन) में आम्रवृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर विराजमान हुये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आम्रवृक्ष

आम्रश्चूतो रसालश्च सहकारोऽतिसौरभः ।

कामाङ्गो मधुदूतश्च माकन्दः पिकबल्लभः ॥ भा.प्र.नि.,पृ.-550

आम का लेटिन नाम Mangifera indica linn Fam. Anacardiaceae है। आम का वृक्ष सभी जगह पाया जाता है। इसका वृक्ष बड़ा होता है।

कृत्रिम रीति से पकाये गये आम के फल के गुण -

आम्रं कृत्रिम पक्वञ्च तद्भवेत्पित्तनाशनम् ।

रसस्याम्लस्य हीनस्तु माधुर्याद्य विशेषतः ॥07॥

चूषितं तत्परं रूच्यं बलवीर्यकरं लघु ।

शीतलं शीघ्रपाकि स्याद्वातपित्तहरं सरम् ॥18॥ भा.प्र.नि.,पृ.-550

यदि आम का फल कृत्रिम रीति से पकाया गया हो तो वह पित्तनाशक होता है क्योंकि उसमें का अम्लरस निकल जाता है तथा मधुर रस की विशेषता हो जाती है। यदि वह चूसा जाये तो अत्यन्त रुचिजनक, बलवीर्यकारक, लघु, शीतल, शीघ्र हजम होने वाला, सारक एवं वात-पित्तनाशक है।

19 - भगवान मल्लिनाथ

गत्वाश्वेतवनोद्यानमुपवासद्वयान्वितः ।

स्वजन्ममासनक्षत्रदिनपक्षसमाश्रितः ॥47॥

दिनषट्के गते तस्य छाद्मस्थ्ये प्राक्तने वने ।

अधस्तरोरशोकस्य त्यक्ताहद्वितंयाद् गतः ॥51॥

पूर्वोक्तवन (श्वेतवन) में अशोकवृक्ष के नीचे दो दिन के लिए गमानागमन त्याग कर दिया।

अशोकवृक्ष

अशोको हेमपुष्पश्च वञ्जुलस्ताम्रपल्लवः ।

कङ्केलिः पिण्डपुष्पश्च गन्धपुष्पो नटस्त्था ॥47॥ भा.प्र.नि.,पृ.-500

अशोक, हेमपुष्प, वञ्जुल, ताम्रपल्लव, कङ्केलि, पिण्डपुष्प, गन्धपुष्प, नट संस्कृत नाम हैं। लेटिन नाम Saraca Indica linn Fam. Leguminosae है।

यह मध्य और पूर्वी हिमालय, पूर्व बंगाल और दक्षिण भारत में पाया जाता है। बंगाल में इसका अधिक आदर है और प्रायः वहां की सब वाटिकाओं में देखा जाता है। इसका वृक्ष बड़ा, सीधा और झोपड़ाकार होता है तथा यह बारहों मास हरा भरा दिखाई पड़ता है।

अशोकः शीतलस्तिक्तो ग्राही वर्ण्यः कषायकः ।

दोषापचीतृषादाहकृमिशोषविषास्रजित् ॥ भा.प्र.नि., पृ.-500

अशोक तिक्त तथा कषायरस युक्त, शीतल, ग्राही, शरीर के वर्ण को उत्तम करने वाला एवं वातादिदोष, अपच, तृषा, दाह, कृमि, शोष, विष और रक्तविकार को दूर करने वाला है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

20 – भगवान मुनिसुव्रतनाथ

प्राप्य षष्ठोपवासेन वनं नीलाभिधानकम् ।

वैशाखे बहुले पक्षे श्रवणे दशमीदिने ॥41॥

मासोनवत्सरे याते छाद्मस्थ्ये स्वतपोवने ।

चम्पकद्रुममूलस्थो विहितोपोषितद्वयः ॥46॥ उत्तर पुराण, पृ.–247

भगवान ने दीक्षा लेने के वन (नील वन) में चम्पक वृक्ष के नीचे स्थित होकर दो दिन के उपवास का नियम लिया ।

चम्पक वृक्ष

चाम्पेयश्चम्पकः प्रोक्तो हेमपुष्पश्च स स्मृतः ।

एतस्य कलिका गन्धफलेति कथिता बुधैः ॥31॥ भा.प्र.नि., पृ.–493

चाम्पेय, चम्पक, हेमपुष्प ये सब संस्कृत नाम हैं । इसकी कली को पण्डित लोग गन्धफली कहते हैं । लेटिन नाम Michelia Champaca linn Fam. Magnoliaceae है ।

चम्पा के वृक्ष प्रायः वाटिकाओं में रोपड़ किये जाते हैं, किन्तु हिमालय में 3000 फुट तथा आसाम, पश्चिमी घाट एवं दक्षिण भारत में वन्य अवस्था में भी पाया जाता है । इसका वृक्ष छोटा करीब 20 फीट ऊंचा होता है और बारहों माह हरा भरा रहता है ।

चम्पकः कटुकस्तिक्तः, कषायो मधुरो हिमः ।

विषक्रिमिहरः कृच्छ्रफवातास्रपित्त जित् ॥32॥

चम्पा कटु-तिक्त-कषाय-मधुर रसयुक्त, शीतल एवं विष, कृमि, मूत्राकृच्छ, कफ, वात, रक्तविकार या वातरक्त और पित्त को दूर करने वाला है ।

21 – भगवान नमिनाथ

गत्वा चैत्रावनोद्यानं षष्ठोपवसनं श्रितः ।

आषाढकालपक्षेऽश्विनक्षेत्रे दशमीदिनं ॥54॥

छाद्मस्थ्येन ततः काले प्रयाते नववत्सरे ।

निजदीक्षावने रम्ये मूले वकुलभूरूहः ॥57॥ उत्तर पुराण, पृ.–335

भगवान दीक्षावन (चैत्रावन) में मनोहर वकुल वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर ध्यानारूढ़ हुये ।

बकुल वृक्ष

बकुलो मधुगन्धश्व सिंहकेसरकस्तथा ।

बकुल, मधुगन्ध, सिंहकेसरक ये मौलसिरी के संस्कृत नाम हैं । लेटिन नाम Mimuscops elengi linn Fam. Sapotceae है ।

शोभा तथा सुगंध के लिए यह सभी जगह बागों में लगाया हुआ पाया जाता है । दक्षिण तथा अंडमान में अधिक होता है । इसके वृक्ष 50 फीट तक ऊंचे, सघन, चिकने पत्तों से युक्त, झोपड़ाकार और सुहावने दिखाई पड़ते हैं तथा बारहों मास हरे भरे रहते हैं ।

वकुलस्तुवरोऽनुष्णः कटुपाकरसो गुरुः ।

कफपित्तविषश्वित्रकृमिदन्तगदापहः ॥33॥ भा.प्र.नि., पृ.–494

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मौलसिरी कषाय रसयुक्त, किंचित उष्ण, पाक तथा रस में कटु, गुरु, एवं कफ, पित, विष, श्वेतकुष्ठ, कृमि एवं दांतों के रोगों को दूर करने वाला है।

22 – भगवान नेमिनाथ

शिबिकां देवकुर्वाख्यामारूहयामर वेष्ठितः।
सहस्राम्रवणे षष्ठानशनः श्रावणे सिते ॥169॥
एवं तपस्यतस्य षट् पञ्चाशदिछनप्रये। छद्मस्थसमये याते गिरैरैवतकामिधे ॥179॥
षष्ठोपवासयुक्तस्यमहावेणोरधः स्थितेः। पूर्वेऽहन्यश्वयुजं मासिशुक्लपक्षादिमे ॥180॥

भगवान रैवतक (गिरनार) पर्वत पर तेला का नियम लेकर किसी बड़े भारी बांस के वृक्ष के नीचे विराजमान हो गये।

बांस (वंशः)

वंशस्त्वक्सारकर्मारत्वचिसारतृणध्वजाः।
शतपर्वा यवफलो वेणुमस्तकरतेजना ॥153॥ भा.प्र.नि., पृ.–376

उपरोक्त श्लोक में बांस के संस्कृत नाम दिये हैं। लेटिन नाम Bambusa arundinace a willd Fam. Gramiceac है।

बांस देश के सभी प्रांतों में उत्पन्न किया जाता है और छोटी-छोटी पहाड़ियों के आस-पास आप ही आप जंगली भी उत्पन्न होता है।

वंशः सरोहिमः स्वादुः कषायो बस्तिशोधनः।
छेदनः कफपित्तधनः कुष्ठास्रव्रणशोथजित्। भा.प्र.नि.,पृ.–376

बांस सारक, शीतवीर्य, स्वादिष्ट, कषायरस युक्त, वस्तिशोधक, छेदक, कफपित्त नाशक एवं कुष्ठ रक्तविकार, व्रण तथा शोथ इन सब को दूर करता है।

23 – भगवान पार्श्वनाथ

विधायाष्टममाहारत्यागमश्ववने महा।
शिलातले महासत्त्वः पल्यङ्कासनमास्थितः ॥128॥
नयन्स चतुरोमासान् छाद्मस्थ्येन विशुद्धिभाक्।
दीक्षाग्रहवने देवदारुभूरिमहीरुहः ॥134॥ उत्तर पुराण, पृ.–438

भगवान ने जिस वन में (अश्ववन) दीक्षा ली थी उसी वन में जाकर वे देवदारु नामक एक बड़े वृ क्ष के नीचे विराजमान हुये।

देवदारु वृक्ष

देवदारु स्मृतं दारुभद्रं दार्विन्द्र दारु च।
मस्तदारु द्रुकिलिमं किलिमं सुरभूरूहः ॥24॥ भा.प्र.नि., पृ.–196

देवदारु, दारुभद्र, दारु, इन्द्रदारु, मस्तदारु, द्रकिलिम, किलित और सुरभरूह संस्कृत नाम हैं। लेटिन नाम Cedrus deodara (Roxb.) Loud Fam pinaceac है।

पश्चिमोत्तर हिमालय में कुमाऊँ से पूर्व की ओर यह पाया जाता है। जौनसार और गढ़वाल में 7 से 8.5 हजार फीट के बीच का भाग देवदारु वृक्षमाला का प्रधान उत्पत्ति स्थान है। इसका वृक्ष बहुत विशाल, चिरायु, सुन्दर, 160 से 180 फीट तक ऊंचा तथा कहीं कहीं इससे अधिक ऊंचा होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवदारु लघु स्निग्धं तिक्तोष्णं कटुपाकि च।
विबन्धाध्मानशोथामतन्द्राहिक्काज्वरास्रजित्।
प्रमेहपीनसश्लेष्मकासकन्डूसमीरनुत् ॥25॥ भा.प्र.नि.,पृ.-196

देवदारु-लघु, स्निग्ध, तिक्त, रसयुक्त, उष्णवीर्य, विपाक में कटुरसयुक्त एवं बिवंध, आध्मान, शोथ, आम, तन्द्रा, हिचकी, ज्वर, रक्तदोष, प्रमेह, पीनस, कफ, खांसी, खुजली तथा वायु को नष्ट करने वाला होता है।

24 - भगवान महावीर

ऋजुकूलानदीतीरे मनोहरवनान्तरे।
महारत्नशिलापट्टेप्रतिमायोगमावसन् ॥349॥
स्थित्या षष्ठोपवासेन सोऽधस्तात्सालभूरूहः।
वैशाखे मासि सज्योत्स्नदशम्याम पराह्णके ॥350॥ उत्तर पुराण, पृ.-466

भगवान ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नामक वन के मध्य में रत्नमयी एक बड़ी शिला पर सालवृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर प्रतिमा योग से विराजमान हुये।

शाल वृक्ष

शालस्तु सर्जकाश्र्याश्वकर्णकाः शस्यशम्बरः। भा.प्र.नि., पृ.-520

शाल, सर्ज, काश्र्य, अश्वकर्णक और शत्यशम्बर ये साल के संस्कृत नाम हैं। लेटिन नाम Shorea Robusta Gaertn. Fam. Dipterocarpaceae है।

शाल के वृक्ष बहुत बड़े विशाल होते हैं। ये हिमालय पहाड़, सतलज नदी से आसाम तक, मध्य हिन्दुस्तान के पूर्वीभाग, बंगाल के पश्चिमी भाग और छोटा नागपुर के जंगलों में होते हैं।

अश्वकर्णः कषायः स्याद्व्रणस्वेदकफक्रिमीन।
ब्रध्नविद्रधिबाधिर्ययोनिकर्णगदान् हरेत ॥19॥ भा.प्र.नि., पृ.-520

साल-कषाय रसयुक्त एवं व्रण, स्वेद, कफ, कृमि, ब्रध्न, विद्रधि, बहरापन एवं योनि तथा कर्ण संबंधी रोग को दूर करने वाला है।

संदर्भ ग्रंथ :-

1. आदिपुराण, भाग-एक, आचार्य जिनसेन, संपादक एवं अनुवाद - डॉ. पन्नालाल जैन, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पाँचवा संस्करण, 1996
2. उत्तर पुराण - आचार्य गुणभद्र, संपादन एवं अनुवाद - पं. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, चौथा संस्करण, 1993
3. श्री चौबीसी पुराण, पं. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, जैन साहित्य सदन, चांदनी चौक, दिल्ली
4. प्रतिष्ठा रत्नाकर, पं. गुलाबचंद्र 'पुष्प', प्रीतविहार जैन समाज (पंजी), दिल्ली-92, प्रथम संस्करण
5. कल्पद्रुम विधान, कविवर राजमल पवैया, प्रकाशक-अखिल भारतीय जैन युवा फेडरेशन, जयपुर 2001
6. स्मारिका पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, आयोजन और प्रयोजन - मुनि समतासागर, प्रकाशक-श्री नेमिनाथ जिनेन्द्र पंचकल्याणक समिति, भोपाल
7. भावप्रकाश निघण्टु, गंगा सहाय पाण्डेय, कृष्णचंद्र चुनेकर चौखम्बा भारतीय अकादमी, वाराणसी, पुनर्मुद्रित 2004
8. राज निघण्टु - श्री मन्नरहरि पंडित, हिन्दी व्याख्याकार - इन्द्रदेव त्रिपाठी, कृष्णदास अकादमी, चौखम्बा प्रेस, वाराणसी, संस्करण - 1982
9. वन विधि संग्रह, डॉ. राधेश्याम द्विवेदी, सुविधा लॉ हाउस प्रा. लि., भोपाल
10. जैन तत्व विद्या, मुनि प्रमाणसागर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सांतवाँ संस्करण

प्राप्त: 10.05.06

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 19, अंक - 3, जुलाई - सितम्बर 2007, 23-32

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

शाकाहार बनाम अहिंसकाहार

■ सूरजमल जैन *

सारांश

वर्तमान में मूलतया कृषि से उपलब्ध शाकाहार को अहिंसकाहार नहीं माना जा सकता। कृषि कार्य में जुताई, बुवाई, सिंचाई, कटाई तक अनन्त-पृथ्वीकायिक, जलकायिक एवं त्रसकायिक जीवों की हिंसा होती है। रासायनिक उर्वरकों से भूमि एवं जल स्रोत्रों के असंख्य जीव मरते हैं, साथ ही भूमि एवं जलस्रोत प्रदूषित होते हैं। कृषि में बढ़ता हुआ कीटनाशकों का प्रयोग स्पष्टरूपेण संकल्पी हिंसा है क्योंकि 'कृषक कीड़े मरे' यह संकल्प करके कीटनाशकों का उपयोग करता है। जैनदर्शन में कृत, कारित, अनुमोदन से कीटनाशकों, रासायनिक उर्वरकों के कारण इस संकल्पी हिंसा का पाप कृषकों के साथ उपभोक्ता श्रावकों एवं मुनियों को भी लगता है। कीटनाशकों से भूमि, जल, वायु प्रदूषण बढ़ रहा है और ये खाद्य, पेय पदार्थों के साथ मानव शरीर में जाकर भयंकर केंसर जैसे रोग उत्पन्न कर रहे हैं। निस्सन्देह शाकाहार मांसाहार से श्रेष्ठ है, अधिक पोषक है, स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद है, किन्तु अहिंसकाहार नहीं है।

यदि हम चाहें तो हिंसा जनित शाकाहार का विकल्प अहिंसकाहार वर्तमान् में संभव है। मेरा प्रोजेक्ट ''वनों से भोजन'' भारत सरकार के प्रौद्योगिकी एवं विज्ञान विभाग से स्वीकृत हुआ था जिस पर स्नेह शर्मा ने शोध करके पी-एच.डी. की है। उपलब्ध समय एवं धनराशि में बीस वन वृक्षों के बीजों का विश्लेषण करके उनमें प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, खनिज रेशे की मात्रा का आकलन किया गया है। यह पाया गया कि वृक्षों से प्राप्त बीज हमारे अधिकांश खाद्यान्नों से अधिक पौष्टिक हैं। खाद्य बीजों के अलावा वृक्षों से खाद्य फल, फूल, पत्र, औषधियां, अनेक रसायन, वस्त्रों के लिए रेशे, आवास के लिए लकड़ी मिलेगी और वे सभी वस्तुऐं जो जीवन के लिए आवश्यक हैं। खाद्य बीज देने वाले वृक्ष यदि कृषि भूमि में लगा दिए जावे तो प्रतिवर्ष प्रति हेक्टार लगभग दो टन बीच उपलब्ध होगें जबकि कृषि का औसत उत्पादन 1.25 टन प्रति हेक्टार प्रतिवर्ष है। वन एक बार लगाने पर चिरन्तर प्राकृतरूप से बने रहे हैं। स्वतः नये पौधे पनपते रहते हैं यदि वनों का वैज्ञानिक प्रबन्धन किया जावे। वृक्ष मात्र एक बार ही लगाने होंगे। इसके बाद किसी प्रकार के गड्डे खोदने, पौधे लगाने, सिंचाई, उर्वरक एवं कीटनाशकों की आवश्यकता नहीं होगी, और किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं होगी। कृषि की भांति प्रति फसल बार-बार जुताई, बुवाई, सिंचाई आदि पर धन व्यय नहीं करना पड़ेगा। मेरे प्रोजेक्ट का संक्षिप्त मेरी पुस्तक "Environmental Ethics" में उपलब्ध है।

* * * * *

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं ण मरिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वयंति णं॥[1]

* बी-7, तलवण्डी, प्राइवेट सेक्टर, कामर्स कॉलेज मेन रोड़, कोटा - 324 005

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं इसलिए प्राणवध को घोर पाप कहकर निर्ग्रन्थ (सर्वज्ञ केवली) इसे वर्जित करते हैं। प्राणवध चाहे एकेन्द्रिय जीव का हो या द्विन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव का, हिंसा ही है और एकेन्द्रिय का घात कम या छोटी हिंसा और द्विन्द्रिय से पंचेन्द्रिय की हिंसा क्रमशः अधिक या बड़ी हो, ऐसा भी नहीं है। यह भी एक भ्रान्ति है कि एकेन्द्रिय जीव को उसके वध पर कम कष्ट होगा और द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुर्न्द्रिय और पंचेन्द्रिय को क्रमशः उसी अनुपात में (इन्द्रियों की अधिकता के अनुसार) अधिक कष्ट होगा। जैनागम एवं वैज्ञानिक प्रमाणों के अनुसार जितनी जितनी इन्द्रियाँ कम होगी शेष उपलब्ध इन्द्रियों की क्षमता उसी अनुपात में अधिक होगी जिससे अनुपलब्ध इन्द्रियों के अभाव में अक्षमता या अपूर्णता नहीं रहती उदाहरणार्थ चींटी आदि जीवों की घ्राणेन्द्रिय क्षमता चतुर्न्द्रिय से अधिक होती हैं। जैविक विकास क्रम में जैसे-जैसे अवयवों (इन्द्रियों आदि) की संख्या, विभिन्नता बढ़ती गई वैसे-वैसे कार्य का विभाजन बढ़ता गया। एकेन्द्रिय जीव द्वारा जीवन निर्वाह के सभी कार्य कलाप भोजन ग्रहण, पाचन, उर्जा उत्पादन (क्रिया कलापों के लिए), मल निष्कासन, दुःख-सुख, अनुकूल अनुभूतियाँ उपलब्ध एक इन्द्रिय द्वारा ही सम्पादित होती हैं जो अधिक इन्द्रियों के जीवों में उपलब्ध क्रमशः अधिक दो से पांच इन्द्रियों द्वारा होती है। वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव पेड़ पौधे भी कटु और मधुर शब्दों से दुखी-सुखी होते हैं, मधुर संगीत से उनकी वृद्धि अच्छी होती है। यदि कोई व्यक्ति उनके पास काटने के अभिप्राय से जावे और कोई पानी देने जावे तो पौधों की क्रमशः दुखी और सुखी अनुभूतियाँ विज्ञान द्वारा प्रमाणित हैं। पौधों की जड़े पोषक तत्वों, जल स्रोतों की पहचान कर, खोज कर उसी दिशा में बढ़ती हैं, संभवतया, उनकी उपलब्ध एक इन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय का भी कार्य कर लेती हैं। हिंसा के सन्दर्भ में एकेन्द्रिय या पंचेन्द्रिय की हिंसा में कोई भेद नहीं है। जीव मात्र की इकाई कोशिका है जो समानरूप से संवेदनशील है। जीन्स के आधार पर उनके कार्य और कार्य प्रणाली भिन्न होती है।

निस्सन्देह शाकाहार मांसाहार से श्रेष्ठ है। शाकाहार स्वास्थ्य के लिए अधिक लाभप्रद है, अधिक पोषक है, प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण को सन्तुलित रखने में भी सहायक है, जबकि मांसाहार सभी प्रकार से हानिकारक है। मांसाहार में मूक पशु-पक्षियों के प्रति उनके पालन, आहार, परिवहन और मारने में अत्यधिक क्रूरता अन्तर्निहित है। इसके साथ ही मांसाहारी शाकाहारी से दस गुना वस्तुतः शाकाहार नष्ट करता है। जिन पशु पक्षियों से मांसाहार प्राप्त होता है वे शाकाहार पर ही निर्भर होते हैं। ये पशु जितना शाकाहार खाते हैं उसकी 10 प्रतिशत उर्जा ही मांस निर्माण में काम आती है शेष उसके हलन-चलन, श्वास, पाचन आदि क्रियाओं में व्यय हो जाती है। यदि मांसाहारी सीधा शाकाहार ले तो 10 प्रतिशत में काम चल जावेगा। मांसाहारियों के लिए पशुओं का जितना अन्न खिलाया जाता है, उससे सारे विश्व की खाद्य समस्या हल हो सकती है। मांसाहारियों का यह तर्क निराधार है कि मांसाहार बंद करने से पशुओं की संख्या बढ़ जावेगी। प्राकृतिक अवस्था में संख्या नहीं बढ़ती क्योंकि प्रजनन क्रिया प्रकृति में उपलब्ध आहार के अनुरूप नियोजित रहती है जैसा कि जर्मनी में भेडियों पर किये वैज्ञानिक प्रयोग से सिद्ध हुआ है। व्यापारिक स्तर पर उत्पादन से ही पशु पक्षियों की संख्या बढ़ती है। किन्तु शाकाहार को अहिंसकाहार प्रतिपादित करना तर्क संगत नहीं है। जैनागम में भी सचित्त अर्थात् हरी पत्तियों, कच्चे फल, भूमि खोद कर निकाले कन्द-मूल अभक्ष्य बताए हैं। शाकाहार के नाम पर वनस्पतिकाय के जीवों की निर्मम हिंसा को अपरिहार्य बताने के लिए यह तर्क दिया जाता है कि जल, वायु, पृथ्वी, अग्निकायिक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से नहीं बचा जा सकता उसी प्रकार वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा से बचना संभव नहीं है। पानी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीने, श्वास लेने में जलकायिक एवं वायुकायिक जीवों के साथ अन्य सूक्ष्म त्रस कायिक जीवों का घात होता ही है। यह तर्क भी विज्ञान सम्मत नहीं है। वस्तुत: श्वास प्रक्रिया में वायुकायिक एवं वायु के साथ सूक्ष्म जीवों का घात नहीं होता क्योंकि शरीर के तापक्रम आदि से ये अप्रभावित रहते हैं उसी प्रकार जिस प्रकार शरीर के बाहर त्वचा पर एवं अन्दर आंतों में असंख्य जीव राशि सहजीवी व्यवस्था में निरन्तर रहती है। आंतों में रहने वाले सूक्ष्म जीव यद्यपि वहां से अपना भोजन लेते हैं तो साथ ही पाचन क्रिया में सहायक भी होते हैं। सूक्ष्म जीवों में अनुकूलन की अपरिमित क्षमता है, कई ज्वालामुखी में और कई शीतकटिबंध में जीवित रहते हैं। इसी सहजीवी व्यवस्था को जैन दर्शन के चिरन्तन सिद्धान्त **''परस्परोपग्रहो जीवानाम्''** से प्रतिपादित किया है जो पूर्णतया विज्ञान सम्मत है। मधु मक्खी फूलों से शहद निर्माण के लिए रस लेती है और साथ ही परागण में सहायक होती है। जीव जगत में इसके अनेक उदाहरण हैं। इनका विस्तार से वर्णन मेरी पुस्तक द्वय "Pristine Jainism" एवं "Environmental Ethics" में उपलब्ध है।[2] **''जैन-दर्शन में जीवो जीवस्य भोजनम्''** या **''जीवो जीवस्य जीवनम्''** की हिंसक अवधारणाओं की स्वीकृति नहीं है।

''अहिंसा परमो धर्म:'' जैन धर्म का मूलभूत सिद्धान्त है। जैनाचार में जीवाणि क्रिया में पानी को कपड़े में छानने के पश्चात् कपड़े को पानी के स्रोत कुएँ, बावड़ी, नदी में पुन: डालकर जो सूक्ष्म जीव कपड़े में रह जाते हैं उन्हें उनके पूर्व पर्यावरण में पहुँचाने का विधान, है ताकि वे सभी जीव अपने उपयुक्त वातावरण में सकुशल रह सकें। विभिन्न सूक्ष्म जीव विभिन्न वातावरण में सुरक्षित रहते हैं। जैन साधु धूप से छांव तथा छाँव से धूप में आने से पूर्व शरीर को पिच्छी से बुहारते हैं ताकि छाँव के जीव धूप में आने पर और धूप के जीव छाँव में आने पर अपने अनुकूल वातावरण में ही रहें। पारिस्थितिकी विज्ञान के इस सिद्धान्त के ऐसे उदाहरण अन्य किसी आचार संहिता में नहीं मिलते। जैन धर्म के नियम पूर्णरूपेण अहिंसा के लिए समर्पित हैं। जैन साधुओं एवं श्रावकों को मन, वचन और शरीर की प्रत्येक क्रिया सावधानीपूर्वक अहिंसक रूप से करने का विधान है। गमन करते समय इस प्रकार चले कि मानों खोये बहुमूल्य मोती को ढूँढ रहे हैं। किसी भी वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखते समय घसीटा नहीं जावे, वरन् सावधानी पूर्वक उठाकर दूसरी जगह को भली प्रकार देखकर रखें ताकि किसी जीव का हनन न हो। गौतम गणधर ने भगवान महावीर से पूछा:-

कहँ चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे ? कहं सए ?

कहँ भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधई ?[3]

अर्थात् किस प्रकार चलें, ठहरें, खाएँ, बोलें, सोएं ताकि पापकर्म का बंध न हो।

भगवान ने बताया :-

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे, जयं सए।

जयं भुंजंतो, भासंतो पावं कम्मं न बंधई।[4]

अर्थात् यत्नपूर्वक चलें, ठहरें, खाएँ, बोलें, सोएं, इससे पापकर्म का बंध नहीं होगा। भगवान ने प्रमाद को पाप का सबसे प्रमुख कारण कहा है। जैन वाङ्मय में हीनाधिक हिंसक और अहिंसक मनोवृत्तियों और प्रवृत्तियों का विवेचन षट् लेश्याओं के आधार पर बहुत ही सहज, सरल और स्पष्ट रूप से किया गया है। निर्मम अत्यधिक हिंसक को काले रंग कृष्ण लेश्या से अभिव्यक्त किया गया है। क्रमश: कम हिंसक को नील (कबूतर का रंग), पीत (पीला), पद्म से और पूर्ण अहिंसक मनोवृत्ति एवं प्रवृत्ति को शुक्ल लेश्या युक्त बताया है। इसे विभिन्न मनोवृत्ति एवं प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों को वृक्ष से फल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेने के तरीके से समझाया गया है। जो व्यक्ति पेड़ से स्वत: गिरे पके हुए फल ही लेता है वह पूर्ण अहिंसक है अर्थात् उसके शुक्ल (धवल) लेश्या है। दूसरा व्यक्ति जो पेड़ से ही चुन चुन कर केवल पके हुए फल तोड़ता है वह बहुत कम हिंसक है उसके पद्म (कमल वर्ण) लेश्या होती है। तीसरा व्यक्ति छोटी पतली डाली तोड़ता है जिसमें पके, कच्चे दोनों प्रकार के फल आ जाते हैं वह दूसरे से अधिक हिंसक है और उसके पीत लेश्या है। चौथा व्यक्ति और बड़ी डाली तोड़ता है वह और अधिक हिंसक है और उसके कापोत लेश्या होती है। पाँचवाँ व्यक्ति प्रमुख बड़ी शाखा तोड़ता है वह बहुत हिंसक है और उसके नील लेश्या है। छठा व्यक्ति घोर हिंसक होकर निर्ममता से पूरा वृक्ष नीचे से ही काट देता है, उसके कृष्ण लेश्या है। इन छ: व्यक्तियों के क्रमश: अधिकाधिक प्रमाद एवं हिंसा की मनोवृत्ति एवं प्रवृत्ति है। इस प्रकार जैन धर्म में पूर्ण रूपेण अहिंसक भाव और क्रिया को ही उपादेय माना है। जैन दर्शन का सम्पूर्ण चिन्तन एवं आचार संहिता का केन्द्र बिन्दु अहिंसा है। इस परिप्रेक्ष्य में शाकाहार को जिसमें वनस्पतिकाय की निर्मम हिंसा हो उसे अहिंसकाहार नहीं कहा जा सकता।

हम यह भूल जाते हैं कि वनस्पतिकाय जीव ही हैं जिनमें सूर्य के प्रकाश के माध्यम से हवा से कारबन-डाइ-आक्साइड को एवं भूमि से जल एवं जटिल तत्वों को ग्रहण कर उनसे विभिन्न प्रकार के खाद्य फल,फूल,बीज,रंग,रेशे,गोंद,औषधियाँ आदि बनाने की क्षमता है। मनुष्य, पशु-पक्षियों एवं विभिन्न जीवों का भोजन वनस्पतिकाय जीव ही बनाते हैं। मांसाहारी भी जिन जीवों पर निर्भर हैं वे अन्ततोगत्वा वनस्पति पर ही निर्भर होते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण जीव जगत पर वनस्पतिकाय का सर्वाधिक उपकार है। यह एक विडम्बना है कि पशु-पक्षियों की सुरक्षार्थ उनकी हिंसा एवं उत्पीड़न के विरूद्ध विश्व के अधिकांश देशों में कानून हैं किन्तु वनस्पतिकाय के उत्पीड़न, हिंसा के विरूद्ध कहीं कोई कानून नहीं है। वनस्पति जगत के प्रति मनुष्य की यह घोर कृतघ्नता ही है। वनस्पतिकायिक जीवों के प्रति उपेक्षा और क्रूरता की पराकाष्ठा है। कई व्यक्ति निष्प्रयोजन निठल्ले बैठे, खड़े व्यर्थ ही दूब या पत्तियाँ तोड़कर उन्हें मसलते रहते हैं। बकरियों के चरवाहे वृक्षों की छोटी टहनियाँ बांस में लगी दरॉती से इतना काटते हैं कि वृक्ष पर एक भी पत्ती नहीं रहती। पत्तियाँ वृक्षों के पाचन, श्वसन आदि के लिए आवश्यक हैं, इनके अभाव में वृक्षों की वृद्धि अवरूद्ध हो जाती है। वृक्षों, पौधों के फूल तोड़ना अत्यधिक प्रचलित है, प्रतिदिन की देव पूजा और अन्य अधिकांश समारोहों में फूलों की मालाओं, गुलदस्तों, पुष्प वर्षा (जैन मुनियों और समारोहों में भी) प्रचुरता से फूलों का उपयोग किया जाता है। हम यह भूल जाते हैं कि फूलों के बाद ही फल बनते हैं। अत: फूल तोड़ना वनस्पति जीवों की भ्रूण हत्या है। फूलों के अभाव में उन पर निर्भर कीट-पतंगें भी नष्ट हो जाते हैं जिन पर हमारी अधिकांश कृषि उपज, तिलहन, धान्य एवं फलों की उपज निर्भर हैं क्योंकि ये परागण में सहायक होते हैं। प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि किसी खेत या उद्यान में मधु मक्खी पालन किया जावे तो उपज में 25 प्रतिशत और इससे भी अधिक वृद्धि हो जाती है। वनस्पतिकायिक जीवों का मनुष्य एवं अन्य जीवों पर अत्यधिक उपकार है। अत: पशु क्रूरता निवारण कानूनों की भाँति वनस्पतिकाय के प्रति क्रूरता निवारण कानून भी बनने चाहिए।

वर्तमान् में शाकाहार का जिस प्रकार उत्पादन एवं प्रयोग किया जाता है उसमें वनस्पतिकाय के साथ पृथ्वीकाय, जलकाय और त्रस जीवों की अपरिमित हिंसा अवश्यम्भावी है। कृषि के लिए भूमि तैयार करने में पृथ्वीकाय के असंख्य त्रस जीवों का घात होता है। रासायनिक उर्वरकों से कृषि के लिए ही उपयोगी अवशिष्ट सूक्ष्म जीवाणु भी नष्ट हो जाते हैं। सिंचाई की विभिन्न पद्धतियों में जलकायिक और त्रस जीवों की विराधना होती है। कीटनाशकों में प्रत्यक्षत: संकल्पी हिंसा ही है, क्योंकि कृषक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कीड़े मारने के संकल्प से ही इनका प्रयोग करता है। कृत, कारित, अनुमोदन से कृषि उपज खाने वाले श्रावकों एवं मुनियों को भी इस संकल्पी हिंसा का दोष लगता ही है। कीटनाशकों के बढ़ते एवं अनियन्त्रित प्रयोग से उपयोगी कीट-पतंगों एवं पशु-पक्षियों का घात होता है और कई प्रजातियाँ लुप्त हो गई हैं एवं शेष तीव्रता से लुप्त हो रही हैं। भोजन के माध्यम से कीटनाशक मनुष्यों के शरीर में आ रहे हैं जिसके फलस्वरूप केंसर, हृदय रोग आदि प्राणघातक रोगों का प्रकोप बढ़ रहा है। रासायनिक उर्वरकों एवं कीटनाशकों के कारण भूमि, जल एवं वायु का प्रदूषण भी निरन्तर बढ़ रहा है और इसके कारण अनेक रोग बढ रहे हैं।

इस सबका यह अर्थ नहीं है कि अहिंसकाहार संभव ही नहीं है। हमारे परम हितोपदेशी तीर्थंकर भगवंतो ने अहिंसा को जैन धर्म का सर्वोत्कृट सिद्धान्त बताया है तो अहिंसकाहार का भी उपदेश दिया है। इसके लिए जैन वाङ्मय के त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ती आदि ग्रन्थों में विस्तार से उल्लेखित काल-परावर्तन के परिप्रेक्ष्य में समझना होगा। काल-चक्र अनादि-अनन्त है जो अनवरत प्रवाहित है। प्रत्येक काल-चक्र में अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी का क्रम होता है। अवसर्पिणी में प्रथम सुखमा-सुखमा फिर क्रमशः सुखमा, सुखमा दुखमा, दुखमा सुखमा, दुखमा और दुखमा-दुखमा के छः काल-खंडों में अत्यधिक सुखद काल से क्रमशः कम सुखद और निरन्तर बढ़ते दुःख के काल खंड़ों में अवनति का क्रम है। उत्सर्पिणी में यह क्रम अत्यधिक दुःखद काल से क्रमशः कम दुःखद, निरन्तर बढते सुख के कालखंडों रूप उन्नति का क्रम होता है जो अनादि से चल रहा है। सुखमा-सुखमा काल में सभी घटक प्राकृतिक वायु, जल, पृथ्वी, छोटे-बड़े सभी जीव, मनुष्य भी पूर्णरूपेण सहजीवी व्यवस्था में रहते हैं। कोई किसी को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते। सारी व्यवस्था पूर्णरूपेण अहिंसक होती है। अहिंसकाहार कल्प वृक्षों से उनके द्वारा स्वतः गिराए फल-फूलों से उपलब्ध होता है। आयु पूर्ण किए वृक्षों की सूखी लकडी ही आवास, पात्र आदि के निर्माण में प्रयुक्त होती है। कल्पवृक्षों के सम्बन्ध में यदि वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया जावे तो यह स्पष्ट होगा कि उनसे बनी बनाई रोटी, सब्जी, कपड़े आदि नहीं मिलते थे वरन् इनके लिए आवश्यक सामग्री मिलती थी। विभिन्न दस प्रकार के वृक्ष (कल्पवृक्ष) जिनमें कई खाद्य सामग्री, कई पेय, कई आवास निर्माण के लिए उपयुक्त लकड़ी एवं अन्य विभिन्न प्रकार की सामग्री तेल, प्रकाशकीय पदार्थों, अनेक प्रकार के रसायन, वस्त्रों के लिए रेशे रंग, औषधियाँ आदि देने वाले वृक्ष वर्तमान् में हीनाधिक मात्रा में अवशिष्ट वन प्रान्तरों में उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त कल्पवृक्षों पर नवीन कोपलों, फूलों आदि का शास्त्रों में वर्णन यह स्पष्ट करता है कि कल्पवृक्ष पृथ्वीकायिक नहीं थे, वरन् वनस्पतिकायिक ही थे और पाषाण युगीन सभ्यता में उन्हें उपमा-उपमेय की अलंकारिक साहित्यक भाषा में पृथ्वीकायिक बना दिया गया। इस सन्दर्भ में अर्हत् वचन के अप्रैल 1997 के अंक में प्रकाशित मेरे लेख "Kalpavrkṣas, the Benevolent Trees (Scientific interpretation)" में विस्तृत विवरण है।

काल परावर्तन में प्रथम सुखमा-सुखमा काल से द्वितीय सुखमा काल में कल्पवृक्षों (वस्तुतः वृक्ष ही, कल्पवृक्ष संज्ञा उनके उपकार के कारण ही) की संख्या कम हो गई और आगे आगे के काल खंडों में क्रमशः बढ़ती जन संख्या और उपभोगवाद के कारण अधिकाधिक कम होती गई और उसी अनुपात में सुख कम होता गया, दुःख बढ़ता गया। यह क्रम आज भी प्रत्यक्ष प्रमाणित है। विगत् पाँच दशकों में जन संख्या विस्फोट और बढ़ती उपभोक्ता संस्कृति के कारण वन क्षेत्र तीव्र गति से कम हुए और अवशिष्ट वनों में भी घनत्व अर्थात् प्रति हेक्टर वृक्षों की संख्या कम हुई है। चतुर्थ दुखमा-सुखमा काल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में कल्पवृक्ष बहुत कम रह गए थे और खाद्यान्न के लिए कृषि का अविर्भाव हुआ। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव पर कृषि का उपदेश आरोपित किया जाता है जो उचित प्रतीत नहीं होता। आदिनाथ तो अहिंसा धर्म के प्रथम उद्घोषक एवं अहिंसा के स्वयं साक्षात् मूर्तिमान प्रतीक थे। वे अपरिमित हिंसा के कारण कृषि का उपदेश कदापि नहीं दे सकते जबकि विगत शताब्दी के पंडित दौलतराम जी ने भी अपनी सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक रचना छहढ़ाला में कृषि को हेय माना है :-

'' देय न उपदेश, होय अध बनज कृषि से ।''[5]

'' कर प्रमाद जल, भूमि, वृक्ष, पावक न विराधे।

असि, धन, हल हिंसोपकरण नहिं दे यश लाधे ॥''[6]

वैदिक साहित्य यजुर्वेद, मनुस्मृति आदि में भी कृषि को हेय माना है:-

'' वैश्यकृत्यादि जीवंस्तु ब्राह्मण: क्षत्रियोऽपि वा।

हिंसा प्रायां पराधीन: कृषिं यत्मेन वर्जयेत ॥

कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्ति: सद्विगर्हितो।

भूमिं भूमिशयांश्चैव हान्ति काष्ठ मयोमुख ॥[7]

अर्थात् वैश्यवृति से जीते हुए भी ब्राह्मण और क्षत्रिय बहुत हिंसा वाली और पराधीन (वर्षा आदि पर निर्भर) खेती को यत्न से छोड़ दें। खेती अच्छी है ऐसा लोग कहते हैं परन्तु सत्पुरुषों द्वारा इसलिए निन्दित है कि किसान का लोहा लगा हुआ हल भूमि और भूमि में रहने वालों का नाश कर देता है और क्योंकि धान्य की खेती से वनों का नाश हो जाता है, पशुओं के चरागाह नष्ट हो जाते हैं। वन वृक्षों से जो शीतलता प्राप्त होती है वह नहीं रहती। इस शीतलता के अभाव में वर्षा कम हो जाती है और प्राण नाशक वायु (कारबनडाइ ऑक्साइड आदि) के बढ़ने से वायु जहरीली हो जाती है और नाना प्रकार की बीमारियाँ पैदा हो जाती है। अवर्षण से भूमि नीरस हो जाती है...।

'' बहुन्नमकृषिवलम ''[8]

अर्थात् वन वृक्षों से बिना खेती के बहुत सा अन्न अर्थात् मनुष्य के आहार की उत्पत्ति होती है।

'' स्वादो: फलस्य जग्ध्वाय ''[9]

अर्थात् मोक्षमार्गी को सुस्वादु फलों का आहार करना चाहिए।

'' पुष्प-मूल-फलैर्वापि केवलैर्वतैयेत्सदा।

काल पक्वै: स्वयं शीर्णवैरवानसमेत स्थित: ॥[10]

अर्थात् पुष्प-मूल अथवा काल पाकर पके स्वयं टपके फलों से वानप्रस्थी निर्वाह करे।

वाल्मिकी रामायण में राम के फलाहार पर ही रहने का उल्लेख है:-

'' कुशचीरा जिन धरं फल मूलाशनं च माम्।''[11]

अर्थात् मैं कुशचीर पहने हुए... केवल फल-फूल खाकर ही रहता हूँ। ऐसा ही भरत, लक्ष्मण, सीता के लिए भी उल्लेख है।[12]

वैज्ञानिकों के अनुसार कृषि का आविर्भाव या आविष्कार लगभग दस हजार वर्ष पूर्व ही हुआ। इसके पूर्व मनुष्य का आहार वनों से प्राप्त फल फूल ही थे। यह अवधारणा कि प्रारम्भ में मानव मांसाहारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था नितान्त निराधार है। जीवों के विकास के क्रम में चिम्पेंजी आदि के बाद उन्हीं से सम्बद्ध श्रेणी में मानव का विकास हुआ। मनुष्य के अवयव पैर, आँतें, दांत आदि इन्हीं शाकाहारी प्राणियों के समान हैं। शिकार के लिए आवश्यक हथियारों (प्रारम्भ में पत्थरों से ही) के निर्माण की बुद्धि मनुष्य में उसके उद्भव के बहुत समय बाद ही आई जिस प्रकार पहिए आदि के निर्माण के लिए। मनुष्य के दांत, नख आदि भी मांसाहारी सिंह आदि की भांति बिना शस्त्र के शिकार करने के उपयुक्त नहीं थे। जनसंख्या कम थी और पृथ्वी पर सर्वत्र सघन वन क्षेत्र थे जिनसे प्रचुर मात्रा में स्वत: गिरे फल-फूल आहार के लिए पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थे। मनुष्य किसी जलस्त्रोत नदी, नाले, झील आदि के पास वनों से प्राप्त स्वत: गिरी सूखी लकड़ी एवं सूखे घांस आदि से बनाए आवासों में रहते थे। वे सुविधानुसार प्रात: या सायं काल समीप के वनों से स्वत: गिरे फल-फूल और सूखे घांस के बीज गेहूँ, जौ आदि एकत्र कर आहार जुटाते थे। एक व्यक्ति से वनों से एकत्र किए विभिन्न घांसों के कणिश सूखे बीच वर्षा ऋतु से पूर्व अनायास उसकी कुटिया के बाहर बिखर गए। उस व्यक्ति ने देखा कि बिखरे बीज प्रस्फुटित होकर पौधे बन गए हैं। उसने इनके बीजों को इकट्ठा किया और सोचा कि वनों में घूम फिर कर परिश्रम से खाद्य फल-फूल-बीज लाने से तो अच्छा है कि एक ही जगह बीज बिखेर दिए जावें और फिर वर्षा ऋतु के पश्चात् पकने एवं सूखने पर संग्रह कर लिए जावें। कृषि का इस प्रकार अनायास आविर्भाव, आविष्कार हुआ। परिश्रम से बचने के लिए प्रमादवश कई इसे अपनाते गए। इनमें एक बड़ा समुदाय बन गया जो सुर या देव कहलाए। 'सुर' शब्द 'सु' धातु से बना है जिसमें क्रिया (कृषि क्रिया) अभीप्सित है। फिर भी एक समुदाय दृढ़ प्रतिज्ञ था कि प्रकृति प्रदत्त वनों का संरक्षण किया जावे और उससे उपलब्ध सामग्री से ही जीवन निर्वाह किया जावे। ये राक्षस कहलाए। 'राक्षस' शब्द 'रक्षा' से बना है। ये वनों की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध रहे। विशाल पौराणिक साहित्य सुर - असुर, देव - राक्षस संग्राम से भरा पड़ा है। सुर चुपचाप वनों को काटकर, जलाकर नष्ट करके भूमि को कृषियोग्य बना देते थे। राक्षसों को विवश अवशिष्ट वन-प्रान्तरों में पीछे हटना पड़ता था। यद्यपि वे सुरों से अधिक शक्तिशाली, समृद्ध एवं सुसंस्कृत थे, किन्तु सुरों (देवों) के छल-कपट से वे पीछे हटते गए, हारते गए और एक प्रकृतिवादी आदर्श सभ्यता नष्ट हो गई। इसके बाद विशाल वन क्षेत्र कृषि भूमि के लिए नष्ट किए गए। महाभारत का खाण्डवदाह इसी का ज्वलन्त उदाहरण है। वर्तमान में गत् सदी तक विश्व में लगभग सर्वत्र वनों को नष्ट कर भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए अनेक प्रलोभन दिए जाते थे। वनों के विनाश से प्रगट दुष्परिणामों के कारण अभी कुछ दशकों से इस पर रोक लगाने के प्रयास किये जा रहे हैं, लेकिन जन संख्या की अनियन्त्रित अतिवृद्धि के कारण कठोर कानूनों की भी धज्जी उड़ाते हुए वन-क्षेत्रों में काफी अतिक्रमण हो रहे हैं जिन्हें वोट-बैंक की विवशता में कालान्तर में नियमित किया जा रहा है।

ऋषभदेव का उत्कृष्ट व्यक्तित्व अत्यधिक प्रभावी था। भीषण युद्धों से संत्रस्त देव और राक्षसों में उनके समझाने से समझौता हुआ होगा जिसके अनुसार कृषि और वानिकी साथ-साथ की जा सकती थी। वृक्षों की कतारें इस प्रकार दिशा में लगाई गई कि उनकी छाया से कृषि-उपज पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। इस व्यवस्था के प्रमाण हड़प्पा-मोहनजोदड़ो क्षेत्रों के सेटेलाइट चित्रों में भी मिले है। यह कृषि-वानिकी पद्धति आधुनिक वैज्ञानिक-प्रबन्धन में द्वितीय विश्व-युद्ध के समय भारत में प्रचलित हुई जिसे टोंग्या पद्धति (TAUNGYA SYSTEM) कहा गया और इसे वानिकी महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम में भी सम्मिलित किया गया। ब्रिटिश शासन में विश्व युद्ध के समय वनों से उनकी क्षमता से अधिक लकड़ी निकाली गई और उसकी क्षति-पूर्ति के लिए वृक्षारोपण की आवश्यकता थी, किन्तु शासन के पास इसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए आर्थिक संसाधन नहीं थे। अत: वन क्षेत्रों में भूमिहीन व्यक्तियों को कृषि के लिए भूमि इस शर्त पर दी गई कि वे 10-15 फीट के फासले पर वृक्षों के पौधे लगाएंगे जो उन्हें वन विभाग से दिए जावेंगे। पाँच-छ: वर्ष में जब पौधे बड़े होकर छाया करने लगे तो अन्य स्थान पर इसी शर्त पर कृषि की अनुमति क्रमश: दी गई। इसी पद्धति से बिना किसी व्यय के सफल वृक्षारोपण वृहत् क्षेत्र में हो गया, ऐसा अच्छा जो अब करोड़ो की राशि में भी नहीं हो पा रहा है। यह पचास के दशक के अन्त तक रहा। बाद में स्वार्थी नेताओं ने भूमिहीन कृषकों को उकसाया और टीनेन्सी और राजस्व एक्ट्स के प्रावधानों के अन्तर्गत वनभूमि पर स्वामित्व दिलाने लगे। वन विभाग को विवश इसे बंद करना पड़ा।

जैन वाङ्मय में काल परावर्तन का जो विशद विवरण मिलता है उसमें यह उल्लेख विशेष रूप से विचारणीय है कि कुछ क्षेत्र जिन्हें विदेह क्षेत्र कहा गया है और उनके अलग अलग नाम भी दिये गये हैं, इनमें काल परावर्तन नहीं होता, कहीं सुखमा तो कहीं सुखमा-दुखमा रूप ही प्रवर्तता रहता है। वैज्ञानिक अवधारणा में ये कहीं सुदूर ऐसे पृथ्वी-साम्य ग्रह होंगे जहां जीवन है, मानवीय सभ्यताएं है। यह बिन्दु महत्वपूर्ण है कि काल-परावर्तन सुखमा-सुखमा रूप नहीं वरन् इससे अवनत स्थितियों सुखमा या सुखमा-दुखमा रूप है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि वहां के निवासियों ने कल्पवृक्षों आदि प्राकृतिक संसाधनों की बढ़ती कमी के अनुपात में अवनति पर विचार कर उनके संरक्षण को जनसंख्या और उपयोग को उनकी नैसर्गिक क्षमता के अनुरूप करके सुनिश्चित किया। इससे अवनति का क्रम अवसर्विणी परावर्तन रुक गया। जिस प्रकार मशीनों, भार वाहक पशुओं की अपनी-अपनी क्षमताएं होती है और इनकी क्षमता से अधिक भार डालने पर नुकसान होता है उसी प्रकार वनों, नदियों, झीलों, वायु आदि की भी क्षमताएं हैं। क्षमता की सीमा में ही भार डाला जावे, इनका दोहन किया जावे तो ये यथावत् सुव्यवस्थित, प्रदूषण विहीन बने रहते हैं। कुछेक उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जावेगा। कम हार्स पावर से अधिक हार्स पावर की क्षमता अधिक होती है। घोड़े से ऊँट की, ऊँट से हाथी की भार वहन क्षमता अधिक है। किन्तु यदि क्षमता से अधिक भार डालें तो इनको हानि होगी। किसी घांस के मैदान की क्षमता एक गाय, किसी की दो गाय प्रति एकड़ चराने की क्षमता है और यदि इससे अधिक गाय या अन्य मवेशी चराई जावे तो घांस के मैदान (चरागाह) से घांस नष्ट हो जावेगी। एक भैंस का भार दो गायों के बराबर होता है। किसी वन खंड की क्षमता उसमें छोटे-बड़े विभिन्न प्रजातियों की वार्षिक वृद्धि की सीमा में होती है। यदि वन खंड के सभी वृक्षों की लकड़ी का घन फल दस हजार वर्ग फीट है और वार्षिक वृद्धि सौ घन फीट है तो इतनी ही (सौ घन फीट ही) लकडी प्रतिवर्ष निकाली जावे तो वन-खण्ड की स्थिति यथावत बनी रहेगी, किसी प्रकार का ह्रास नहीं होगा, उसी प्रकार जैसे बैंक में जमा राशि का यदि केवल ब्याज ही निकाला जावे। सभी प्राकृतिक घटकों, भूमि, वायु, जल आदि स्त्रोतों की क्षमताएं मापने व जानने की वैज्ञानिक विधियाँ उपलब्ध हैं किन्तु उनका अनुपालन नहीं हो रहा है। सभी संसाधनों पर भार क्षमता से कई गुना है और निरन्तर बढ़ रहा है।

जैनागम में प्रतिपादित उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल-परावर्तन का ही रूपान्तर वनस्पति विज्ञान में सक्सेशन (Succession) एवं रिट्रोग्रेशन (Retrogression) की प्राकृतिक प्रक्रिया है। उदाहरणार्थ उष्ण कटिबन्ध क्षेत्र में किसी नदी प्रवाह के मार्ग बदलने पर रिक्त भूमि पर पशु-पक्षियों, वायु आदि द्वारा लाए विभिन्न बीजों में सर्वप्रथम साधारण घांस ही आवेगी जिससे पारिस्थितिकी का सुधार होगा, भूमि किंचित् उर्वरा बनेगी। फिर छोटी झाड़ियाँ, फिर बबूल जैसे वृक्ष पनपेंगे, यद्यपि बीज अन्य कई वृक्ष-प्रजातियों के भी लाए जा रहे हैं। पारिस्थितिकी के क्रमश: सुधार से इसके बाद शीशम, सिरस आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृक्ष और बाद में सागवान जैसे वृक्ष पनप सकेगें। यदि मानवीय हस्तक्षेप नहीं हो तो वानस्पतिक विकास क्रम में अन्ततः आम जामुन जैसे वृक्ष पनपेंगे। इस प्रकार उत्तरोत्तर विकास-क्रम में पूर्व-पूर्व की प्रजातियाँ क्रमशः कम होकर लुप्त होती रहती हैं। इसे सक्सेशन कहते हैं। चरम विकास की अवस्था को क्लाइमेक्स (Climax) कहते हैं। इस अवस्था में आगे परिवर्तन नहीं होता और इसी रूप रहती है। यदि मानवीय हस्तक्षेप से कटाई, चराई, आग आदि होती है तो उनकी अधिकता के अनुरूप मन्द-तीव्र गति से क्षरण प्रारंभ हो जाता है, चरण क्लाइमेक्स से क्रमशः नीचे की अवस्था आने लगती है और अन्ततः भूमि वनस्पति विहीन हो जाती है। इसे रिट्रोग्रेशन कहते हैं। सक्सेशन (विकास) और रिट्रोग्रेशन (पतन) को स्थिति के अनुरूप प्रबन्धन से किसी भी स्तर पर रोका जा सकता है। वानिकी में सागवान विकास क्रम में क्लाइमेक्स से नीचे के स्तर की प्रजाति है और चरम विकास (क्लाइमेक्स) की प्रजातियों से मूल्यवान है अतः नियन्त्रित चराई, कटाई, आग से विकास क्रम को रोक दिया जाता है। इस प्रकार विकास-क्रम को रोकना, आगे या पीछे ले जाना वानिकी-प्रबन्धन में विभिन्न क्षेत्रों में पारिस्थितिकी एवं आवश्यकता के अनुसार किया जा रहा है। इसी आधार पर प्राकृतिक संसाधनों की क्षमता की सीमा में उपयोग को नियन्त्रित कर काल-परावर्तन को नियन्त्रित करना निश्चितरूपेण संभव है। विदेह-क्षेत्रों में इसी सिद्धान्त के अनुसार काल-परावर्तन पर नियन्त्रण संभव हुआ होगा। इस पृथ्वी पर भी यदि इस सिद्धान्त का अनुपालन किया जावे तो वर्तमान दुखमा काल को दुखमा-दुखमा में जाने से रोका जा सकता है और इसके विपरीत पुनः क्रमशः दुखमा-सुखमा, सुखमा-दुखमा, सुखमा, सुखमा-सुखमा की स्थिति भी लाई जा सकती है। यह मात्र परिकल्पना नहीं है, विज्ञान-सम्मत प्रक्रिया है।

सुखमा-सुखमा और सुखमा काल-खन्डों में मानव समुदाय पूर्णरूपेण कल्पवृक्षों अर्थात् वनों पर ही निर्भर रहता था। सभी आवश्यकताएं विभिन्न प्रजातियों के वृक्षों से उपलब्ध विभिन्न पदार्थों से पूरी होती थी। मनुष्य की आवश्यकता की ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो वनों से उपलब्ध नहीं हो सकती। वर्तमान् में भी यह संभव है। प्रथम टोंग्या (Taungya) पद्धति से कृषि-वानिकी प्रारम्भ की जावे। जब तक वृक्ष बड़े होकर फल-फूल-बीज, आदि नहीं देने लगें तब तक कृषि उपज से काम चलाया जाता रहें। पांच-छः या अधिकतम दस वर्षो में वृक्ष उपज देने लगेंगे फिर कृषि बंद कर दी जावे। वन एक बार सुस्थापित होने पर बिना किसी मानवीय श्रम एवं धन के चिरकालीन यथावत् रहते हैं, यदि उनका क्षमता के अनुरूप ही दोहन किया जावे। किसी भी प्रकार की भूमि की क्रिया (हल चलाना आदि) नहीं करनी पड़ती, चूहे आदि जीव भूमि को उलट-पुलट करते रहते हैं। पशु-पक्षी विभिन्न प्रजातियों के बीज बिखेरते रहेंगे। सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं होती क्योंकि जल-संरक्षण के लिये वृक्षों से अधिक सक्षम और सस्ता वस्तुतः निःशुल्क अन्य कोई उपक्रम नहीं है, प्रयोगों से यह प्रमाणित किया गया है कि सघन वन-क्षेत्र में वर्षा का 99 प्रतिशत से अधिक पानी वहीं रूक जाता है, सोख लिया जाता है, जिससे भूमिगत जलाशय परिपूर्ण रहते हैं। मात्र एक प्रतिशत पानी ही बहता है जिससे वर्षाकाल में विनाशकारी बाढ़ों का प्रकोप समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत वृक्ष विहीन भूमि में वर्षा की 99 प्रतिशत जल बह जाता है और मात्र एक प्रतिशत ही रूक पाता है जिससे वर्षा काल में विनाशकारी बाढ़ें आती हैं और फिर जल स्त्रोत नदी, नाले वर्ष भर सूखे रहते हैं। वनों में किसी प्रकार के उर्वरकों की आवश्यकता नहीं होती, निरन्तर गिरती पत्तियों, टहनियों से उत्तम उर्वरक सदैव उपलब्ध रहता है। चूंकि वन क्षेत्रों में विभिन्न प्रजातियाँ एक साथ होती है और उन पर रहने वाले कीड़े भी विभिन्न प्रकार के होते हैं अतः प्राकृतिक संतुलन रहता है। किसी भी प्रकार का कीटों का प्रकोप नहीं होता। अतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कीटनाशकों की आवश्यकता नहीं होती। वनों (कल्पवृक्षों) पर आधारित जीवन-शैली में किसी भी प्रकार की हिंसा, प्रदूषण या क्षरण नहीं होता। पूर्णरूपेण सहजीवी-सहयोगी व्यवस्था रहती है। सभी-जीव परस्पर सहयोगी-सहजीवी रहकर **''परस्परोपग्रहोजीवानाम्''**[13] चिरन्तन सूत्र की सार्थकता को प्रतिपादित करते हैं। मनुष्य भी स्वत: गिरे फलों को खाकर उनके बीजों को बिखेर कर (Dispersal of seeds) वृक्षों की सहायता करते हैं। वनों पर आधारित जीवन शैली में किसी प्रकार का श्रम या धन का व्यय नहीं होता।

आधुनिक कृषि में जुताई, बुवाई, सिंचाई, खाद एवं कीटनाशकों से अत्यधिक हिंसा होती है, प्रदूषण बढ़ रहा है, क्षरण हो रहा है। कृषि की लागत इतनी बढ़ गई है और निरन्तर बढ़ रही है कि अरबों रूपयों के अनुदान की बैसाखी पर ही चल पा रही है। कृषक आत्महत्या भी कर रहे हैं। मेरा प्रोजेक्ट वनों से भोजन भारत सरकार के विज्ञान एवं प्राद्योगिकी विभाग से स्वीकृत हुआ था और उस पर स्नेह शर्मा ने पी.एच.डी. की है। इसके अन्तर्गत् वनों के वृक्षों के खाद्य बीजों की पौष्टिकता (उपलब्ध प्रोटीन, कारबोहाइड्रेट, वसा, रेशे, खनिज तत्व) का आकलन किया गया। स्वीकृत धन राशि एवं निर्धारित समय सीमा में बीस प्रकार के वृक्षों के बीजों का विश्लेक्षण किया जा सका जिनकी पौष्टिकता कृषि से प्राप्त अनाजों, दालों से अधिक पाई गई। वनों से औसत 2 से 5 टन पौष्टिक खाद्य बीज प्रति हेक्टर प्रति वर्ष बिना किसी श्रम एवं धन के व्यय के उपलब्ध हो जाते हैं, खाद्य, फल, फूल, पत्ते आदि इसके अतिरिक्त हैं। वनों से खाद्य सामग्री के अतिरिक्त आवासीय लकड़ी, औषधीय सामग्री एवं अनेक रसायन भी उपलब्ध होते हैं जिन पर आधारित लघु-वृहत् उद्योग चल सकते हैं। यदि अहिंसकाहार ही अभीप्सित है तो कल्पवृक्षों (वनों) पर आधारित जीवन-शैली अपनाना आवश्यक है। यह संभव है और इसी में प्राणी-मात्र का हित अन्तर्निहित है।

सन्दर्भ स्थल :-

1. समणसुत्तं, गाथा 148, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, सन् 1975
2. पुस्तक द्वय -
   1. Pristine Jainism by S.M. Jain, Parshvanath Vidyapeeth, Varanasi, 2003
   2. Environmental Ethics by S.M. Jain, Prakrit Bharati Academy, Jaipur, 2006
3. महावीर - गौतम संवाद
4. वही
5. छहढ़ाला, कविवर दौलतराम, ढाल 4, छंद 2
6. वही, ढाल 6, छंद 12
7. मनुस्मृति, 10/83-84
8. ऋग्वेद, 10/146/6
9. वही, 10/146/5
10. मनु स्मृति, 6/21
11. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, 50/44
12. वही, 50, 31/26, 27/16
13. तत्वार्थसूत्र, अध्याय-5, सूत्र-21

प्राप्त : 27.06.07

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान ऋषभदेव की सिद्धवरकूट स्थित प्राचीन मूर्ति

मूर्ति की पादपीठ पर अंकित शिलालेख

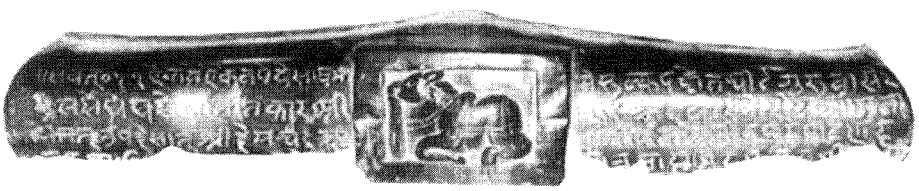

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 19, अंक - 3, जुलाई-सितम्बर 2007, 33-36

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

सिद्धवरकूट - कतिपय तथ्य

■ सूरजमल बोबरा*

सारांश

नर्मदा के सुरम्य तट पर स्थित प्रसिद्ध जैन सिद्धक्षेत्र सिद्धवरकूट का वैदिक परम्परा के तीर्थ एवं ज्योतिर्लिंग के रूप में प्रख्यात ओंकारेश्वर से गहरा ऐतिहासिक संबंध है। नर्मदा नदी के एक तट पर सिद्धवरकूट तो नदी के दूसरे तट पर ओंकारेश्वर है। सम्पूर्ण क्षेत्र पूर्व में मांधाता के नाम से प्रख्यात था। ऐतिहासिक पौराणिक संदर्भों का विश्लेषण करते हुए इतिहास की टूटी लडियों को जोड़ने का प्रयास प्रस्तुत लेख में किया गया है।

निर्वाण काण्ड (प्राकृत) की 11वीं गाथा में वर्णन है

रेवा- णइए तीरे पच्छिम - भायाम्मि सिद्धवर.. कूडे ।
दो चक्की दह कप्पे आहट्ठय - कोडि - णिव्वुदे वन्दे ॥

इस गाथा से स्पष्ट है कि सिद्धवरकूट प्राचीन काल से जैन परंपरा में पूजित है। यहां से दो चक्रवर्ती, 10 कामदेव व साढ़े तीन करोड़ मुनि मोक्ष गये हैं। यह संख्या सिद्धवरकूट के लंबे समय से जैन साधुओं और तपस्वियों की तपस्थली व मोक्षस्थली होने का संकेत देती है।

नर्मदा और रेवा के संगम पर स्थित यह सिद्धक्षेत्र उन और बड़वानी से निकटता से जुड़ा हुआ है। यह तीनों ही स्थान निमाड़ के गौरव हैं। भारत का प्राचीनतम इतिहास नर्मदा और विंध्याचल के साथ एकमेव है। यह इतिहास अब धीरे-धीरे उजागर हो रहा है और आशा करनी चाहिए कि कई नए संदर्भ इससे उजागर होंगे।

भट्टारक महेन्द्र कीर्तिजी ने सं 1935 में स्वप्न पाकर खोज की तो उन्हें चन्द्रप्रभु भगवान की सं 1545 की मूर्ति व वि.सं. 11 (?) आदिनाथ भगवान की मूर्ति प्राप्त हुई एवं विशाल खंडित मंदिर परिसर दिखाई दिया। जीर्णोद्धार पश्चात सं.1951 में प्रतिष्ठा द्वारा यह क्षेत्र प्रकाश में आया।

आज इस क्षेत्र में ओंकारेश्वर परियोजना के साथ नई हलचल पैदा हुई हैं। बॉध व पन बिजली घर का निर्माण हो रहा है। जैन समाज को जागरूक रहना चाहिए कि वंदित स्थान को कोई हानि न पहुँचे। हमें इन नये का स्वागत तो करना ही है। किंतु अपने प्राचीन तीर्थों की रक्षा के लिए भी जागरूक रहना चाहिए। जैन समाज के लिए देश सब से पहले है किंतु धार्मिक आस्थाएँ भी समानान्तर रूप से महत्वपूर्ण हैं।

बॉध स्थल पर प्राचीन मूर्तियाँ प्राप्त हो रही हैं जो इस बात का संकेत दे रही हैं कि नर्मदा-रेवा के संगम स्थल पर प्राचीन काल में भी जैन परिसर था। ट्रेन से सिद्धवरकूट आने के लिए ओंकारेश्वर रोड़ स्टेशन पर उतरना पड़ता है। पहले इस स्टेशन व स्थान का नाम मांधाता हुआ करता था। आज भी यह स्थान पोस्ट मांधाता के नाम से जाना जाता है। यदि मांधाता नाम बना रहता तो इतिहास की गइराई में जाने में मदद मिलती।

* निदेशक - ज्ञानोदय फाउन्डेशन, 9/2, स्नेहलता गंज, इन्दौर - 452 003

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मांधाता आयोध्या का एक प्राचीन सूर्यवंशी राजा था जो दिलीप के पूर्वजों में से था। ओंकारेश्वर के प्राचीन संदर्भों में भी मांधाता का उल्लेख है। यदि मांधाता के कार्यकलापों का विवरण प्राप्त हो जाए तो सिद्धवरकूट की प्राचीनता पहचानी जा सकेगी।

नर्मदा के किनारे ईटबेड़ी (कसरावद) में भी जैन परिसर होने की संभावना व्यक्त की गई है। मोहन जोदड़ो/सिंधु सभ्यता काल में नर्मदा घाटी में उसी प्रकार की सभ्यता के अस्तित्व का पता लगता है। इस सभ्यता में योगिक जीवन दर्शन के संदर्भ मिले हैं।

सम्पूर्ण नर्मदा का बहाव क्षेत्र अपने गर्भ में इतिहास की कई अज्ञात कड़ियों को छिपाये बैठा है। एक कड़ी को यहाँ हम पहचानने का प्रयत्न करेंगे। श्री विष्णुपुराण[1] का कथन है कि जहां से सूर्य उदय होता है और जहां अस्त होता है वह सभी क्षेत्र युवनाश्व के पुत्र मांधाता का है।

मांधाता सप्त द्वीपा पृथ्वी का राज्य भोगता था। मांधाता ने शत बिन्दु की पुत्री बिन्दुमती से विवाह किया था और उससे पुरूकुत्स, अम्बरीष और मुचुकुंद नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए और उसी के उसके पचास कन्याएँ उत्पन्न हुई। इन कन्याओं का विवाह बहुवृच सौभरी नामक महर्षि से हुआ। मांधाता के पुत्र अम्बरिष के युवनाश्व नामक पुत्र हुआ। मांधता के पुत्र पुरूकुत्स की भार्या नर्मदा नागाधिपाति की बहन थी। जिसकी प्रेरणा से रसातल में जाकर पुरूकुतस ने गंधर्वों का नाश कर नागधिपतियों की मदद की। उस समय समस्त नागराजों ने नर्मदा को यह वर दिया कि जो कोई तेरा स्मरण करते हुए तेरा नाम लेगा सर्प विष से कोई भय न होगा।[2] इसी वंश में चक्रवर्ती सागर हुआ। इस प्रकरण में मांधाता और नर्मदा का संबंध प्रकाशित होता है।

जैन संदर्भ भी कुछ संकेत देते हैं ।

मघवा: धर्मनाथ के तीर्थ में मघवा नामक तीसरा चक्रवर्ती हुआ। अयोध्या नरेश इक्ष्वाकुवंशी सुमित्रा की महारानी भद्रा से मघवा नाम का पुत्र हुआ। वह चक्रवर्ती राजा बना। अपरिमित वैभव होते हुए भी वह भोगों में आसक्त नहीं हुआ। इसका समय भगवान धर्मनाथ के पश्चात तथा भगवान शान्तिनाथ के पहले है। अभय घोष केवली के उपदेश से उनके मन में आत्म कल्याण की भावना जागृत हुई और वे आरंभ परिग्रह का त्याग कर सकल चरित्र के धारी हो गए और मोक्षगामी हुए।

पद्म पुराण के अनुसार आयोध्या नरेश सुरेन्द्रमन्यु हुआ जिसके वंश में मांधाता हुआ। मांधाता के संबंध में बताते हुए रामचंद्र वर्मा ने लिखा है - अयोध्या का एक प्राचीन सूर्यवंशी राजा जो दिलीप के पूर्वजों में से था।

मघवा : सातवें द्वापर के व्यास।

क्या मघवा और मांधाता एक ही व्यक्ति थे ? इस प्रश्न के पैदा होने के तीन प्रमुख कारण है।

सौभरि ऋषि ने मांधाता की 50 कन्याओं से विवाह किया था। सौभरि ऋषि ने 12 वर्ष जल में निवास किया था। उस जल में सम्मद नामक एक बहुत सी संतानोवाला और अति दीर्घकाय मत्स्यराज था। उसके पुत्र-पौत्र आदि उसके आगे पीछे इधर-उधर-पुच्छ और सिर के उपर धूमते हुए अति आनन्दित होकर रातदिन उसी के साथ क्रीड़ा करते थे..... सौभरि ऋषि ने विचार किया **यह धन्य है जो ऐसी अनिष्ट योनि में उत्पन्न होकर भी अपने इन पुत्र–पौत्र और दौहित्र आदि के साथ निरंतर रमण**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता हुआ हमारे हृदय में डाह उत्पन्न करता है।

सौभरि ऋषि के हृदय में संसार बसाने की भावना जागृत हुई और गृहस्थाश्रम में प्रवेश की भावना से कन्या ग्रहण करने के लिए राजा मांधाता के पास आये। कहीं ऐसा तो नही कि सौभरि ऋषि नर्मदा के जल में तप करते हों क्योंकि विशाल मत्स्य ओंकारेश्वर घाट से लगे नर्मदा में ही संभव है। उस घाट से थोड़ा हट कर मांधाता नाम से ज्ञात स्थान है। कही पौराणिक चक्रवर्ती मांधाता की राजधानी या उपराजधानी इसी क्षेत्र में हो। जैन संदर्भों में वर्णित चक्रवर्ती मघवा भी मांधाता के समान इक्ष्वाकुवंशी ही थे। मघवा रेवा नदी सिद्धवरकूट से तपस्या कर मोक्षगामी हुए।

कथानक इस प्रकार बनता है कि द्वापर के स ातवें युग में मांधाता नर्मदा के किनारे बसी एक विशाल नगरी के शासक थे। वे इक्ष्वाकुवंशी चक्रवर्ती राजा थे। नर्मदा के किनारे बसे राजा मांधाता की नगरी को ही उनके नाम से मांधाता कहा जाने लगा।

मांधाता के पुत्र पुरूकुत्स ने नर्मदा क्षेत्र के बहुमुखी विकास के लिए प्रयत्न किया। यह भी पौराणिक संदर्भ है कि नागवंशी लोग गंधर्व जाति के लोगों से परास्त होकर पाताल पुरी में केन्द्रित हो गए थे। नागवंशियों ने पुरूकुत्स से अनुनय की हो कि उन्हें गंधर्वों के भय से मुक्त कराने के लिए मदद की जाए। श्री विष्णुपुराण का कथन है कि नर्मदा, जिसे पुरूकुत्स की भार्या कहा गया है वह पुरूकुत्स को रसातल में ले आयी। रसातल में पहुँचने पर उसने सम्पूर्ण गंधर्वों को मार डाला। उस समय समस्त नागराजाओं ने नर्मदा को यह वर दिया कि जो काई तेरा स्मरण करते हुए तेरा नाम लेगा उसे सर्प विष से कोई भय नहीं होगा। नर्मदा के किनारे बसी जनजातियों में आज भी यह विश्वास प्रचलित है।

इस कथानक में मनुष्य और प्रकृति (पुरूकुत्स और नर्मदा नदी) के सहयोग से रसातल पाताल पुरी तक (पश्चिमांचल-खंभात की खाड़ी तक) मांधाता के सम्राज्य का विस्तार हुआ हो यह सत्य स्मृति रूप में रखने का प्रयत्न किया गया है। नर्मदा मध्यांचल की जीवन रेखा है जिसका पुरूकुत्स ने जलमार्ग से यात्रा करते हुए गंधर्वों का वध किया हो और नागों को उन के आतंक से मुक्त कराया हो। नर्मदा को मध्य में रखकर सम्राट मांधाता ने धर्मराज्य की स्थापना की और अपने अंत समय सर्वत्यागी मुनि बन कर रेवा नदी के उस पार पहाड़ी पर आत्मा साधना की हो और वहीं से नश्वर देह त्याग मोक्ष गामी हो गये हों। क्या ये मघवा थे ? संभावना के इस सेतु को हमे जीवित रहने देना चाहिए ताकि इतिहास को जोड़ा जा सके। जिस काल की यह घटना है उस समय श्रमण और वैदिक चिंतन व परमपरायें विरोधी नहीं थी। दोनों का नजरिया अलग-अलग था।

मघवा शांतिनाथ के अंतराल में एवं भगवान धर्मनाथ के तीर्थकाल में हुए थे।

मांधाता (मघवा) का काल निर्धारण करने में कुछ तथ्य मदद कर सकते है। मांधाता का वंश इस प्रकार चलता है - मांधाता - अम्बरीष - युवनाश्व - हारीत + पुरूकुत्स - त्रासयस्यु - अनरण्य - पृषदख - हर्यश्व - हस्त - सुमना - त्रिधन्वा - त्रय्यारूणि - सत्यव्रत (त्रिशंकु) - हरिश्चंद्र - रोहिताश्व - हरित - चञ्जु - विजय + वसुदेव - विजय से रूरूक - वृक्र - बाहु - सगर (इस ने हैहय और ताल जंघ क्षत्रियों का नाश किया)

अयोध्या का चक्रवर्ती मघवा व नर्मदा किनारे का मांधाता का समन्वय कठिन हो सकता है पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असंभव नहीं - चक्रवर्ती होने के नाते अयोध्या और नर्मदा किनारे ओंकारेश्वर वाला स्थान सभी उनके मघवा या मांधाता के अधिपत्य में ही होगें और नर्मदा तट की सुरम्यता को देखकर उनहोंने वहाँ एक नगरी बसाई हो जिसे मांधाता कहा जाने लगा हो।

न हमारे पास मांधाता ग्राम का कोई प्रामाणिक इतिहास है न सिद्धवरकूट का प्राचीन इतिहास है किंतु मांधाता और मघवा इनमें विरोधाभास नजर नहीं आता है। हम प्राकृत की गाथा को भी कैसे भूल सकते है।

भारतीय संस्कृति में नदी को जीवन दायिनी के रूप में पूजा गया है। नर्मदा की सहायता - प्रेरणा से कहीं पुरूकुत्स - नाविक शक्ति का सहारा लेकर पश्चिम क्षेत्र (रसातल) गया हो और दानव जाति पर विजय प्राप्त की हो। दो सांस्कृतिक परम्पराएं संकेत कर रही है कि मांधाता और मघवा एक ही व्यक्ति होना चाहिए। यही संकेत सिद्धवरकूट के इतिहास की पुष्टि करेगा। जैन संदर्भों में वर्णित चक्रवर्ती मघवा भी मांघाता के समान इक्ष्वाकुवंशी ही थे। मघवा रेवानदी सिद्धवरकूट से तपस्या कर मोक्षगामी हुए। सिद्धवरकूट का इतिहास इसी प्रकार होना चाहिए, वह मांधाता और मघवा के समन्वय से नर्मदा घाटी के पुरातत्व से जुड़ा हुआ लगता है। पुरातत्व वेत्ता कुछ अन्य प्रमाण देंगे तो तथ्यों को स्वीकार करना अनिवार्यता होगी। किंतु जैन समाज इन संदर्भों के प्रकाश में अपने प्रकाशनों में जागरूक रहेगा तो जैन इतिहास को क्रमबद्ध करने में सहायता मिलेगी।

नर्मदा और उसके किनारे पर जैन धर्म के अस्तित्व का प्रमाण विष्णुपुराण में अन्यत्र मिलता है। कथन है कि - पाराशरजी बोले - हे मैत्रेय ! तदनन्तर माया मोह ने (देवताओं के साथ) जा कर देखा कि असुरगण नर्मदा के तट पर तपस्या में लगे हुए है। तब उसे मयूरपिच्छ धारी दिगम्बर जैन मुण्डित केश माया मोह ने असुरों से अति मधुर वाणी में इस प्रकार कहा। यह सम्पूर्ण जगत विज्ञानमय है - ऐसा जानो। यह संसार अनाधार है भ्रमजन्य पदार्थों की प्रतिति पर ही स्थिर है तथा रागादि दोषों दुषित है। इस संसार संकट में जीव अत्यंत भटकता रहता है।

माया मोह ने दैत्यों से कहा था कि आप लोग इस महाधर्म को 'अर्हत' इसका आदर कीजिए। अतः उस धर्म का अवलंबन करने से वे 'आर्हत' कहलाये।

इस कथानक में परपरागत विद्वेष की झलक हो किंतु नर्मदा के तट पर 'अर्हत् वचन' की प्राचीन उपस्थिति का प्रमाण तो है ही। मयूर पिच्छीधारी दिगम्बर और मुण्डित केश और उसके वचन सभी दिगम्बर मुनि की उपस्थिति को रेखांकित करते हैं। अमरकंटक से लेकर खंभात तक नर्मदा घाटी में जैन वंदित क्षेत्र अनेकों है।

संदर्भ स्थल :-

1. कसरावद उत्खनन् - डॉ. वि.श्र. वाकणकर, उज्जैन
2. विष्णु पुराण, अध्याय - 3, अंश - 4, श्लोक - 53, गीताप्रेस, गोरखपुर
3. वही, श्लोक, 7-13
4. वही, अध्याय - 18, श्लोक - 1,2,9-12, 18-17

प्राप्त : 05.01.06

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 19, अंक - 3, जुलाई-सितम्बर 2007, 37-39

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जैन धर्म में स्वस्तिक (सांथिया)

■ जया जैन *

सारांश

प्रस्तुत आलेख में भारतीय परम्परा में सर्वमान्य मांगलिक प्रतीक स्वस्तिक के महत्व तथा उसके अर्थ को स्पष्ट किया गया है।

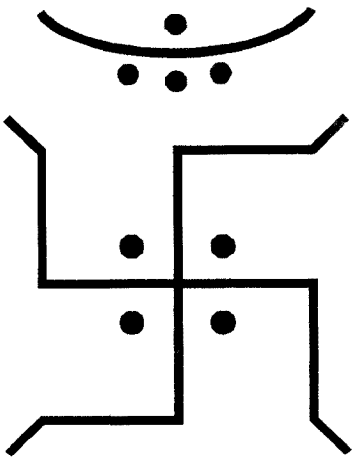

स्वस्तिक एक मांगलिक प्रतीक है। जिसके आकार में मंगल का भाव समाहित हो गया है। जिसके विन्यास की रेखायें और दिशायें मंगल तत्व का संकेत करती हैं। रूप, भाव और तत्व इस मांगलिक प्रतीक में मिलकर एक हो गये हैं। स्वस्तिक को जैन धर्म में मंगलकारी माना गया है।

स्वस्तिक की उत्पत्ति ऋग्वेद से भी प्राचीन है। स्वस्तिक पूजा का चलन हमें लोक संस्कारों से लेकर शैल चित्रों, सिन्धु घाटी की सीलों व सभी आस्तिक धर्मों में मांगलिक रूप से मिलता है।[1] किसी भी शुभ कार्य को करने से पहले स्वस्तिक चिन्ह अंकित कर पूजन किया जाता है।

'स्वस्तिक' शब्द 'सु-अस' धातु से बना है। 'सु' याने अच्छा, कल्याण, मंगल और 'अस' अर्थात् सत्ता या अस्तित्व।[2] तीनों लोक, तीनों कालों तथा प्रत्येक वस्तु में जो विद्यमान है, वही सुन्दर, मंगल, उपस्थिति का स्वरूप है। यही भावना स्वस्तिक की है।

'स्वस्तिक' शब्द **'सॉथिया'** रूप में भी प्रचलित है। 'सॉथिया' शब्द प्राकृत का अपभ्रंश रूप है। इसका प्राकृत शुद्ध रूप **'संठवो'** होना चाहिये। जिसका संस्कृत रूप संस्था के संस्थापक होता है। इसका सीधा शब्दार्थ होता है। संस्थिति करनेवाला, संस्थापक। इतिहास साक्षी है कि इस युग के आदि में लोगों के जीवन-निर्वाह की स्थिति भगवान ऋषभदेव ने की थी और उन्होंने ही सर्वप्रथम धर्म की स्थापना की थी, अतः लोग उन्हें 'संस्थापक' कहने लगे, जो कि उनके कार्यों के अनुरूप ही नाम था। इस प्रकार इसी 'संस्थापक' शब्द का प्राकृत-अपभ्रंश में सॉथिया प्रचलित हो गया प्रतीत होता है।[3]

* प्राध्यापिका - चित्रकला विभाग, कमला राजा कन्या महाविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)
निवास - एफ-3, शासकीय आवास कम्पू, ग्वालियर (म.प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'स्वस्तिक' का क्षेत्र व्यापक है इसका महत्व अनेक सांस्कृतिक परिवेशों में समान रूप से रहा है। 'स्वस्तिक' अनेक क्षेत्रों को स्पर्श करता है, क्योंकि विभिन्न स्थानों पर इसके अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं। जैसे दक्षिण भारत में इसे सूर्योपासना से संबंद्ध किया है तो कहीं यह सौभाग्य मूलक माना गया है।[4]

स्वस्तिक अनेक रूपों में भी अंकित हुआ है। पूर्ण या सबाहु स्वस्तिक (卐) का विकास मूलतः अबाहु स्वस्तिक (+) से हुआ, जो धन चिन्ह और गुणन चिन्ह (+, ×) दोनों रूपों में अंकित किया जाता था।[5] अंग्रेजी में जिसे 'क्रास' शब्द से इंगित किया गया है। इसके अतिरिक्त इस चिन्ह के अनेक और भी अर्थ दिये गये है, जैसे प्रजनन प्रतीक, व्यापारिक चिन्ह, अलंकरण, अभिप्राय आदि।[6]

जॉन गेम्बल के मतानुसार 'क्रास' का आदितम् रूप मृत्यु का द्योतक नहीं था वरन् मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का प्रतीक था।[7]

धन चिन्ह (+) और गुणन (×) चिन्ह में एक दूसरे को काटती हुई दो सीधी रेखायें होती हैं। जो आगे चलकर फिर से मुड़ जाती है। इसके बाद भी ये रेखायें अपने सिरों पर थोड़ी और मुड़ी होती है।[8]

जब हम स्वस्तिक के प्रचलित आकार प्रकारों पर दृष्टिपात करते हैं तो इस आकृति की समता सर्वप्राचीन ब्राम्हीलिपि के 'ऋ' अक्षर से बहुत कुछ मेल खाती है। स्वस्तिक के इस आकार के साथ कहीं पर इसके मध्य बिन्दु होता है।[9] जैन दर्शन में स्वस्तिक के उपर नंदीपद प्रतीक की अवधारणा की गई है। स्वस्तिक के बिन्दु आकार अरिहंत और सिद्ध रूप के प्रतीक हैं।[10] स्वस्तिक संसार से मुक्ति तक की सभी अवस्थाओं की ओर प्राणियों का ध्यान आकर्षित करता है। इसके मध्य में खड़ी और आड़ी (+) दो रेखायें पुरूष और प्रकृति , जीव और पुद्गल, चैतन्य और जड़, ब्रम्ह एवं माया, अमृत एवं मर्त्य, सत्य और असत्य, अमूर्त और मूर्त आदि विश्व के दो सनातन तत्वों का निर्देश करती हैं। इन रेखाओं के सिरों पर की चार पंक्तियाँ चार गतियों का स्मरण कराती हैं।[11] ये चार गतियां हैं देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक, जिन्हें स्वस्तिक के चारो कोण इंगित करते हैं जब चतुर्गति दुःख समाप्त हो जाता है, तब परम मंगल की प्राप्ति होती है। स्वस्तिक भी इसी तथ्य की अभिव्यंजना करता है। आशय यह है कि स्वस्तिक की चारों भुजाएं चारों गतियों के दुःखों का स्मरण दिलाकर, प्राप्त मानव पर्याय को संयम द्वारा सार्थक बनाने का संकेत प्रस्तुत करती हैं कि जीव जिस समय, जिस अवस्था, पर्याय या शरीर में रहता है, उस समय उसकी वह गति मानी जाती है।

जीव की अवस्था विशेष को ही गति कहा गया है। अपने शुभ-अशुभ कर्म बन्ध के अनुसार ही जीव को गति की प्राप्ति होती है। तीव्र पापोदय से 'नरक', परम शुभोदय से 'देव', पापोदय से 'तिर्यंच' और शुभोदय से मनुष्यगति की प्राप्ति होती है। संयम और तपश्चरण-द्वारा मनुष्य इन गतियों के बन्धनों को तोड़ सकता है। मनुष्य गति का सर्वाधिक महत्व इसलिए है, कि इस गति से जीव चारों गतियों को तो प्राप्त कर ही सकता है, पर सिद्धावस्था भी इस गति से प्राप्त की जा सकती है।[12]

स्वस्तिक के मध्य में रखे हुये चार बिन्दु चार धातियॉ कर्मों को नाश कर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप अनन्त लक्ष्मी को प्राप्त अरहन्त का सूचक ज्ञात होते हैं।[13] आत्मा के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करने के लिये मानव को त्रिरत्न (सम्यक्, दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र) का अनुसरण करना चाहिये। यह त्रिरत्न तीन बिन्दु के रूप में स्वस्तिक के शिरोभाग पर स्थापित किये जाते है। इनका अनुसरण करने पर मानव आध्यात्मिक रूप से उपर उठता है जिसके प्रतीक स्वरूप तीन बिन्दुओं के उपर अर्धचन्द्र की आकृति दर्शायी जाती है, जिसे सिद्ध शिला का प्रतीक माना जाता है।[14]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध शिला का आकार अर्धचन्द्राकार है, यह अर्धचन्द्र मोक्ष का प्रतीक है।[15] अर्धचन्द्र के बीच का बिन्दु उस अवस्था को द्योतित करता है, जब आत्मा को पूर्ण चेतना प्राप्त हो जाती है और वह पुद्गल (पदार्थ) के संसर्ग से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाती है। स्वस्तिक का एक अर्थ और भी है आडी व खड़ी रेखायें क्रमशः जीव व पुद्गल को दर्शाती, शेष चार रेखायें जीव की गतियों में उत्पत्ति को प्रदर्शित करती है। इन चार रेखाओं को काटने वाली + अन्य चार रेखायें इन गतियों में पर्याय के मिटने अर्थात् व्यय की प्रतीक है तथा चार बिन्दु द्रव्य की स्थिरता के सूचक है। इस तरह स्वस्तिक जैन धर्म में वर्णित द्रव्य के उत्पाद (उत्पन्न होना), व्यय (मिटना) और ध्रौव्य (अविनश्वरता) को प्ररूपित करने वाला प्रतीक भी है। कहीं - कहीं। स्याद्वाद दर्शन का प्रतीक भी स्वस्तिक को माना है। स्वस्तिक के 'सु' शब्द का अर्थ है समस्त, अस्ति = स्थिति, क = प्रकट करने वाला अर्थात् समस्त संसार की समस्त वस्तुओं की वास्तविक स्थिति प्रकट करने की सामर्थ्य स्याद्वाद दर्शन में है जिसे स्वस्तिक प्रतिबिम्बित करता है।[16]

स्वस्तिक में जैन धर्म, दर्शन की संपूर्ण कथा सन्निहित है। प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों में ग्रंथ आरंभ के पहले स्वस्तिक चिन्ह तथा ग्रंथ समाप्त करने पर भी स्वस्तिक चिन्ह मंगल सूचक होने के कारण दिया गया है।[17] व्यापक रूप से पूज्य व प्रचलित मंदिरों, ध्वजाओं पर स्वस्तिक का अंकन देखने को मिलता है। आज भी यह अक्षत पुंजो में बनाया जाता है, चौबीस तीर्थंकरों के लांछनों (चिन्ह) में से एक है। यह सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का चिन्ह है।

कर्मयोग का परिचायक स्वस्तिक व्यक्ति को चारों दिशाओं में आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। स्वस्तिक महा प्रतीक है, भारतीयता का, कर्मठता का और कर्मयोग का यह एक महान संदेशवाहक है।

सन्दर्भ :-

1. चतुर्वेदी, गोपाल मधुकर, भारतीय चित्रकला, साहित्य संगम, इलाहाबाद, 1989, पृष्ठ - 111
2. जोशी, महादेव शास्त्री, हमारी संस्कृति के प्रतीक, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1989, पृष्ठ - 117
3. जैन, हीरालाल, तीर्थंकर (इन्दौर), जनवरी 75, पृष्ठ - 27
4. सिंह, वीरेन्द्र, प्रतीक दर्शन, मंगल प्रकाशन, जयपुर, 1977, पृष्ठ - 45
5. गुप्ता, जगदीश, प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली - 5, पृष्ठ - 418
6. सिंह, वीरेन्द्र, प्रतीक दर्शन, पृष्ठ - 45
7. वही, पृष्ठ - 45
8. शर्मा, योगेशचन्द्र, कादम्बिनी 1998, पृष्ठ - 161
9. देखें, संदर्भ - 3, पृष्ठ - 22, 28
10. देखें, संदर्भ - 3, पृष्ठ - 27, 28
11. जैन, भागचन्द्र, देवगढ की जैन कला एक सांस्कृतिक अध्ययन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली - 1974, पृष्ठ - 110
12. शास्त्री, नेमिचन्द्र, गुरू गोपालदास बरैया स्मृति ग्रंथ - अ.भा.दि. जैन विद्वत् परिषद, सागर, 1974, पृष्ठ - 337
13. देखें, संदर्भ - 3, पृष्ठ - 28
14. देखें, संदर्भ - 3, पृष्ठ - 22
15. देखें, संदर्भ - 12, पृष्ठ - 337
16. देखें, संदर्भ - 3, पृष्ठ - 22,28
17. देखें, संदर्भ - 12, पृष्ठ - 132

प्राप्त : 16.06.07

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित उपलब्ध साहित्य

क्र.	पुस्तक का नाम	लेखक	I.S.B.N.	मूल्य
01.	बालबोध जैनधर्म, पहला भाग संशोधित	पं. दयाचन्द गोयनीय	81-86933-01-8	1.50
02.	बालबोध जैनधर्म, दूसरा भाग	पं. दयाचन्द गोयलीय	81-86933-02-6	1.50
03.	बालबोध जैनधर्म, तीसरा भाग	पं. दयाचन्द गोयलीय	81-86933-03-4	3.00
04.	बालबोध जैनधर्म, चौथा भाग	पं. दयाचन्द गोयलीय	81-86933-04-2	4.00
05.	नैतिक शिक्षा, प्रथम भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-05-0	4.00
06.	नैतिक शिक्षा, दूसरा भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-06-9	4.00
07.	नैतिक शिक्षा, तीसरा भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-07-7	7.00
08.	नैतिक शिक्षा, चौथा भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-08-5	6.00
09.	नैतिक शिक्षा, पांचवाँ भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-09-3	6.00
10.	नैतिक शिक्षा, छठा भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-10-7	6.00
11.	नैतिक शिक्षा, सातवां भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-11-5	6.00
12.	The Jaina Sanctuaries of the Fortress of Gwalior	Dr. T.V.G. Shastri	81-86933-12-3	500.00
13.	जैन धर्म - विश्व धर्म	पं. नाथूराम डोंगरीय जैन	81-86933-13-1	12.00
14.	मूलसंघ और उसका प्राचीन साहित्य	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-14-×	70.00
15.	Jain Dharma-Vishwa Dharma	Pt. Nathuram Dongariya Jain	81-86933-15-8	20.00
16.	म.प्र. का जैन शिल्प	श्री नरेशकुमार पाठक	81-86933-18-2	300.00
17.	जैनाचार विज्ञान	मुनि सुनीलसागर	81-86933-20-4	20.00
18.	समीचीन सार्वधर्म सोपान	पं. नाथूराम डोंगरीय जैन	81-86933-21-2	20.00
19.	An Introduction to Jainism & Its Culture	Pt. Balbhadra Jain	81-86933-22-0	100.00
20.	जीवन क्या है ?	डॉ. अनिलकुमार जैन	81-86933-24-7	50.00
21.	विदेशी संग्रहालयों में भारत की जैन मूर्तियाँ	श्री नरेश कुमार पाठक	81-86933-25-5	50.00
22.	Mathematical Contents of Digambara Jaina Texts of Karnanuyoga Group, Vol.-1 & Vol.-2	Prof. L.C. Jain	81-86933-26-3 81-86933-27-1	3000.00 Per set
23.	जैन संस्कृत साहित्य में श्री कृष्ण चरितः एक अध्ययन	संस्कृति राँवका	81-86933-28-×	100.00

नोट : पूर्व के सभी सूची पत्र रद्द किये जाते हैं। मूल्य परिवर्तनीय हैं।

प्राप्ति सम्पर्क : कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, 584, महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर - 452 001

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 19, अंक - 3, जुलाई-सितम्बर 2007, 41-45

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जैन धर्म : तत्कालीन ऐतिहासिक सरोकार

■ शिखरचन्द्र जैन *
■ मनोज कुमार जैन **

सारांश

छठवीं शताब्दी ईसा पूर्व का विश्व इतिहास में विशिष्ट स्थान है। इस शताब्दी से ही प्राचीन भारत में राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक बदलाव दिखाई दिए। इस शताब्दी में कई नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। फलस्वरूप मानव मस्तिष्क से वैचारिक रक्तहीन क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। इस काल तक समाज ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र चार वर्णों में विभाजित हो चुका था। वैचारिक क्रांति का सूत्रपात क्षत्रिय वर्ण से हुआ। इसने तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था को प्रभावित किया। महावीर स्वामी जैन धर्म के प्रवर्तक नहीं थे। महावीर स्वामी से पूर्व भी जैन धर्म विद्यमान था। वे तो छठी शताब्दी ईसा पूर्व में जैन धर्म आन्दोलन के पुनर्रुद्धारक थे। महावीर स्वामी मातृ पक्ष से अजात शत्रु के निकट सम्बन्धी थे उन्होने 30 वर्ष की अवस्था में ग्रह त्याग किया और तपस्या में लीन हो गये इस बीच उनके कई शिष्य बनें कुछ ने उनका साथ छोड़ा। केवलज्ञान प्राप्ति के बाद उन्होंने धार्मिक सिध्दान्तों का प्रचार प्रसार किया और जैनधर्म भारत का प्रमुख धर्म बन गया। महावीर स्वामी ने अनेकान्तवाद अर्थात स्याद्वाद का मार्ग अपनाया। जैन धर्म पूर्णतः जाति व्यवस्था के विरुद्ध नहीं है। जैन धर्म में ब्राह्मण को भी उचित स्थान दिया गया है। जैन धर्मावलाम्बियों की संख्या भारत में बौद्धों से अधिक है। जैन धर्म को उस समय कुछ प्रमुख प्राचीन भारतीय राजवंशों का संरक्षण प्राप्त हुआ। जैन धर्म को अहिंसक कार्यक्षेत्र वाले लोगों ने अपनाया। राजनैतिक परिदृश्य को प्रभावित करने की दृष्टि से अजातशत्रु, उदयन और नन्द राजाओं को ले सकते हैं। यह जैन धर्म का ही प्रभाव था कि मगध में नन्द वंश का शासन स्थापित हुआ जिन्हें इतिहासकार शूद्र मानते हैं। इस शासन का पर्याप्त विस्तार हुआ जैन धर्म के कारण ही ब्राह्मणों को कई सुधारात्मक प्रयास करने पड़े ब्राह्मणों में आत्मावलोकन की प्रवृत्ति का विकास भी जैनों के कारण ही हुआ।

विश्व के अनेक देशों के साथ-साथ भारत में भी यह काल मानव मस्तिष्क में हुई जबरदस्त उथल-पुथल का साक्षी बना। लोग पहले से चले आ रहे धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों से ऊब चुके थे। सामाजिक धार्मिक कठोरताओं से उन्हें चिढ़ होने लगी थी। लोग इस पार्थिव जीवन के कष्टों से मुक्ति पाने के लिए सतत् प्रयत्नशील होने लगे। वस्तुतः भारत में इस काल तक आते-आते सामाजिक, धार्मिक जीवन में संकीर्णता, अन्धविश्वास, जटिलता और अनेक वर्जनायें आ चुकी थी।

इस काल तक समाज चार वर्णों में विभाजित हो चुका था-ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र।

* विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मुरैना (म.प्र.)
* अतिथि सहायक प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मुरैना (म.प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तिम दो वर्ण सामाजिक संरचना में महत्वहीन थे। वस्तुत: व्यवस्था के विरुद्ध आवाज इन्हीं वर्णों से उठनी चाहिए थी, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। वैचारिक क्रांति का सूत्रपात क्षत्रिय वर्ण से हुआ। बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म के प्रणेता क्षत्रिय ही थे। जो इस तथ्य को इंगित करते हैं, कि वास्तव में व्यवस्था कितनी निकृष्ट हो चुकी थी। प्रस्तुत शोध पत्र में इन्हीं सब तथ्यों का विश्लेषण एवं आंकलन किया गया है, कि जैन धर्म के प्रादुर्भाव से तत्कालीन भारत की राजनैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था किस प्रकार प्रभावित हुई? इस सबका राजनैतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों से क्या सरोकार था? क्या यह मात्र प्रतिक्रियावादी धर्म सुधार आन्दोलन था?

गौतम बुद्ध के समय आविर्भूत होने वाले अरूढ़िवादी महापुरुषों में जैन धर्म के महावीर स्वामी का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। जैन परम्पराओं में चौबीस तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है, किन्तु तत्कालीन स्रोतों से हमें, शोध एवं गवेषणा के पश्चात् तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के विषय में संक्षिप्त जानकारी ही प्राप्त होती है। वस्तुत: महावीर जैन धर्म के प्रवर्तक नहीं थे। वे छठी शताब्दी ईसा पूर्व के जैन धर्म आन्दोलन के प्रवर्द्धक थे।[1] यह निश्चित है कि जैन धर्म एवं उसकी कुछ शिक्षाएं महावीर से पूर्व ही अस्तित्व में आ चुकी थी। "Thus, Unlike Buddha, Mahavira was more a reformer of an existing religion and possible of a church than the founder of new faith,.....he is represented as following a well established creed, most probably that of Pārśva".[2]

महावीर का जन्म 599 ई.पू. में कुण्डलपुर ग्राम में नाथवंशीय राजा सिद्धार्थ के यहाँ हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ क्षत्रियों के संघ के प्रधान थे, जो वज्जि संघ का प्रमुख सदस्य था। उनकी माता वैशाली के लिच्छवि कुल के प्रमुख चेटक की प्रथम कन्या थी। इस प्रकार मातृ पक्ष से वे मगध के हर्यक कुल के राजाओं बिम्बसार एवं अजातशत्रु के निकट सम्बन्धी थे। श्वेताम्बर जैन ग्रन्थ आचारांग सूत्र उनके कठोर तपश्चर्या एवं कायक्लेश का बड़ा ही रोचक विवरण प्रस्तुत करता है:- ''प्रथम 13 महीनों में उन्होंने कभी भी अपना वस्त्र नहीं बदला। सभी प्रकार के जीव जन्तु उनके शरीर पर रेंगते थे। तत्पश्चात उन्होंने वस्त्रों का पूर्ण त्याग कर दिया और नंगे घूमने लगे। शारीरिक कष्टों की उपेक्षा करके वे अपनी साधना में रत रहे।.....उन्होंने न तो कभी धैर्य खोया और न ही अपने उत्पीड़कों के प्रति मन में द्वेष अथवा प्रतिशोध रखा। वे मौन एवं शान्त रहें।'' प्रो. ए. एम. घाटगे लिखते है कि - "This was probably the first important step in the reformation of the church of Pārśva.[3]

उनके भ्रमणकारी जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना नालन्दा में मक्खलिपुत्तगोशाल से उनकी भेंट थी। यह सन्यासी उनका शिष्य बन गया, किन्तु छ: वर्षो बाद उनका साथ छोड़कर उसने ''आजीवक'' सम्प्रदाय की स्थापना की। बारह वर्षों की कठोर तपस्या एवं साधना के पश्चात् जृम्भिक ग्राम के समीप ऋजुपालिका नदी के तट पर एक साल वृक्ष के नीचे उन्हें कैवल्य (ज्ञान) प्राप्त हुआ। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् वे ''केवली'' जिन (विजेता) अर्हत् (योग्य) तथा निर्ग्रन्थ कहे गये। अपनी साधना में अटल रहने तथा अतुल पराक्रम दिखाने के कारण उन्हें महावीर नाम से सम्बोधित किया गया। शीघ्र ही जैन धर्म भारत के प्रमुख धर्मों में शुमार हो गया।

गौतम बुद्ध के समान महावीर स्वामी ने भी वेदों की अपौरूषेयता स्वीकार करने से इन्कार कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया तथा धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों और पाखण्डों का विरोध किया। उन्होंने आत्मवादियों तथा नास्तिकों के एकान्तिक मतों को छोड़कर बीच का मार्ग अपनाया। जिसे अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद कहा गया है। इस मत के अनुसार किसी वस्तु के अनेक धर्म (पहलू) होते हैं तथा व्यक्ति अपनी सीमित बुद्धि द्वारा केवल कुछ ही धर्मों को जान सकता है। पूर्ण ज्ञान केवल उनके (केवली) लिए ही सम्भव है। अत: उनका कहना था कि सभी विचार अंशत: सत्य होते हैं। महावीर स्वामी द्वारा दिया गया यह विचार अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यह उनकी बौद्धिक सहिष्णुता का भी परिचायक हैं। महावीर सृष्टि के कण-कण में जीवों का वास मानते थे। इसी कारण उन्होंने अहिंसा पर विशेष बल दिया।

सामान्यत: यह विश्वास कर लिया जाता है, कि जैन धर्म पूर्णत:जाति व्यवस्था के विरुद्ध है। वस्तुत: ऐसा नहीं है। डॉ. राधाकृष्णन ने ''भारतीय दर्शन'' में स्पष्ट लिखा है कि ''जैन जाति प्रथा के विरुद्ध नहीं है, जो उनके अनुसार आचरण से सम्बन्ध रखती है। मनुष्य अपने कर्मों से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र बन सकता है।..... इसी तथ्य को डॉ. आर. सी. मजूमदार ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है- "Jainism did not oppose the caste system and was more accommodating to Hinduism than Buddhism".[5] जैन ब्राह्मण शब्द को एक सम्मानीय शब्द समझते हैं जिसका प्रयोग ऐसे व्यक्तियों के लिए किया जा सकता है जो जन्म से ब्राह्मण नहीं हैं।[6] जन्मगत जाति का मिथ्याभिमान और उसके कारण जातियों से पृथक रहने के विचार को जैन धर्म के अनुयायी दूषित मानते हैं। यही कारण है कि जैन धर्म एक खुला धर्म बन सका। आज भी भारत में इसके अनुयायी अच्छी संख्या में विद्यमान है। यद्यपि प्राचीन भारत में बौद्धों की अपेक्षा जैन संख्या में कम तथा प्रचार-प्रसार का उत्साह जैन धर्मावलम्बियों में कम था। इस ऐतिहासिक तथ्य की व्याख्या करते हुए श्रीमती स्टीवेंसन ने लिखा है- ''जैन मत का स्वरूप कुछ ऐसा था, कि जिसके कारण यह आवश्यकता पड़ने पर अपने आवश्यक अंगों के जरिये आपत्ति से अपनी रक्षा कर सकने की क्षमता रखता था। बौद्ध मत के समान इसने कभी अपने को इस समय के प्रचलित मतों से एकदम पृथक् नहीं किया। इसने सदा ब्राह्मणों को अपने पारिवारिक पुरोहितों के स्थान में नियुक्त किया जो इसके जन्म के समय भी सब संस्कारों के अध्यक्ष होते थे और प्राय: वे ही मृत्यु एवं विवाह आदि के समय और मंदिरों में पूजन आदि के लिये भी धर्माध्यक्ष होते थे। इसके अतिरिक्त अपने प्रमुख चरित्रनायकों में जैनियों ने हिन्दू देवताओं, यथा राम एवं कृष्ण आदि के लिए भी कुछ स्थान शलाका पुरुष के रूप में सुरक्षित रख लिये थे। महावीर की संगठन संबंधी प्रतिभा के कारण भी जैन मत एक उचित स्थान में खड़ा रहा क्योंकि जैनमत ने सर्वसाधारण को भी संघ के आन्तरिक भाग के रूप में स्वीकृत किया, जबकि बुद्धमत में उनका कोई भाग न था और न उसकी व्यवस्था में उनके लिए कोई स्थान था। इसलिए जब सारे देश में अत्याचार के तूफान आये तब जैनमत ने सरलता के साथ हिन्दू धर्म तथा विजेताओं को जैनमत एवं उस विशाल हिन्दू धर्म में कोई भिन्नता प्रतीत न हो सकी।[7]

तत्कालीन समय में जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एवं विस्तार का श्रेय महावीर स्वामी की धार्मिक शिक्षाओं के अतिरिक्त दो अन्य बातों को भी जाता है। प्रथम, जैन धर्म को प्रमुख प्राचीन भारतीय शासकों का संरक्षण प्राप्त होना। द्वितीय, वह तथ्य जिसका विश्लेषण डॉ. रोमिला थापर ने अपने ग्रन्थ में किया हैं। वह तथ्य यह है कि जैन धर्म मूलत: अहिंसा पर बल देता है। अहिंसा वह भी मानव मात्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिये नहीं अपितु सम्पूर्ण प्राणी मात्र के लिए। इसलिए यह आवश्यक था कि यह धर्म भारतीय समाज के उस वर्ग द्वारा अंगीकार किया जाए जो अधिकाधिक अहिंसक कार्यक्षेत्र वाला हो और वह ऐसा वर्ग था वैश्य वर्ग, जो व्यापार के कार्य में संलग्न था।[8]

जैन धर्म ने अपने उद्भव के साथ ही तत्कालीन राजनैतिक परिदृश्य को प्रभावित करने का कार्य किया। प्राचीन काल में चूँकि अनेक शासकों ने जैन धर्म को स्वीकार कर प्रश्रय प्रदान किया था, इसके कारण यह धर्म और पल्लवित एवं विस्तारित हुआ। हर्यक कुल का शासक अजातशत्रु अपने शासन काल के प्रारम्भिक वर्षो में जैन धर्म का ही अनुयायी था। अजातशत्रु का उत्तराधिकारी उदयन भी जैन धर्म का अनुयायी था। जैन ग्रन्थ आवश्यक सूत्र से पता चलता है कि अपनी राजधानी के मध्य में उसने एक चैत्य गृह का निर्माण करवाया था। वह नियमित रूप से व्रत करता तथा जैन आचार्यों के उपदेश सुनता था। जैन आचार्यों के उपदेश सुनते - सुनते ही वह एक हत्यारे द्वारा छुरा भोंककर मार डाला गया।

सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टिकोण से तत्कालीन परिदृश्य पर जैन धर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप से तब परिलक्षित होता है, जब मगध के साम्राज्य पर नन्द वंश का शासन स्थापित होता है। मगध पर नंद वश की स्थापना निश्चित रूप से छठवीं शताब्दी में हुई वैचारिक धार्मिक क्रांति की राजनैतिक परिणति थी। जब एक शूद्र व्यक्ति शासक बनता है तथा उसे सामाजिक अभिस्वीकृति भी मिली। चूंकि यह शासक जैन धर्म का अनुयायी था। इसी कारण वह तत्कालीन सामाजिक राजनैतिक वर्जनाओं को तोड़ने में सफल हुआ। इससे पूर्व सामान्यत: यह माना जाता था कि एक शासक को क्षत्रिय ही होना चाहिए। जबकि हम जानते है कि तत्कालीन सामाजिक संरचना में शूद्र सबसे निम्न पायदान पर स्थित थे। नन्दों के इतिहास जानने के साधनों में जातीय पूर्वाग्रह भी परिलक्षित होता है। नंदवंश के संस्थापक महापद्मनंद के लिए पुराणों में स्पष्ट लिखा है कि वह शूद्र स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुआ था।

''महानन्दीनस्त तश्शूद्रागर्भोद्भवो अतिलुब्धों अतिबलों महापद्नामा नन्द: परशुरामिवापरो अखिल क्षत्रान्तकारी भविष्यति।''[9]

इसके अतिरिक्त अन्य भारतीय एवं ग्रीक साक्ष्य भी उसे या तो निम्न कुल का या शूद्र ही बताते हैं। किन्तु जैन 'धर्म को मानने वाला वह तत्कालीन मगध के सिंहासन पर बैठने वाले राजाओं में सर्वाधिक शक्तिशाली था। जिसे 'कलि का अंश' सभी क्षत्रियों का नाश करने वाला (सर्वक्षत्रान्तक), 'दूसरे परशुराम का अवतार' था जिसने अपने समय के सभी प्रमुख राजवंशों को विजित किया। उसने एक छत्र शासन की स्थापना की तथा 'एकराट' शासक की उपाधि धारण की। जो विवरण मिलता है वह इस प्रकार है :-

''महानंदी सुतश्चापिशूद्रायां कलिकाशंज:।
उत्पस्यते महापद्मों सर्वक्षत्रान्तको नृप:॥
एकराट् स महापद्म एकछत्रों भविष्यति।

××××

स एकछत्रं पृथ्वी अनुलंघितशासन:।
स्थास्यति महापद्मो द्वितीय इव भार्गव:॥[10]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार प्राचीन भारतीय इतिहास में पहली बार एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना हुई जिसकी सीमाएं गंगा घाटी के मैदानों का अतिक्रमण कर गयी। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से उसकी कलिंग विजय की सूचना प्राप्त होती है। यह सब क्यों एवं किस प्रकार हुआ? यह विचारणीय प्रश्न है। वस्तुत: नंद राजाओं का शासन काल भारतीय इतिहास के पृष्ठों में अपना एक अलग महत्व रखता है। यह भारत के सामाजिक-राजनैतिक आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण पहलू है। ''सामाजिक दृष्टि से इस निम्न वर्ग के उत्कर्ष का प्रतीक माना जा सकता है। इसका राजनैतिक महत्व इस तथ्य में निहित है कि इस वंश के राजाओं ने उत्तर भारत में सर्वप्रथम एकछत्र राज्य की स्थापना की। इसी काल में जो आर्थिक समृद्धि हुई उसने पाटलिपुत्र को शिक्षा एवं साहित्य का केन्द्र बना दिया। व्याकरणाचार्य पाणिनि महापद्मनंद के मित्र थे। इनके अतिरिक्त वर्ष, उपवर्ष, वररुचि, कात्यायन जैसे विद्वान भी इसी काल में ही हुए थे।

निष्कर्षत: यह स्वीकार किया जा सकता है कि प्राचीन भारत के राजनैतिक क्षितिज पर नंद जैसे शूद्र राजवंश का आगमन छठवीं शताब्दी ईसा पूर्व में जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म के उदय, प्रभाव एवं विस्तार ने प्राचीन भारत की सामाजिक धार्मिक व्यवस्था को भावी समय में अत्यधिक प्रभावित किया। यहाँ तक कि पूर्व से चले आ रहे ब्राह्मण धर्म को इन धर्मों से काफी धक्का लगा। इन धर्मों के उदय के कारण ही ब्राह्मण धर्म को अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए अत्यन्त सुधारात्मक प्रयास करने पड़े।[11]

भारत के भावी इतिहास में जैन धर्म, बौद्ध धर्म एवं ब्राह्मण धर्म समानान्तर तीन धाराओं की तरह आगे बढ़े। सामाजिक संरचना में इतना लचीलापन आया, कि विदेशी आक्रमणकारियों को भारतीय संस्कृति ने आत्मसात किया। यदि जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म जैसे सुधारवादी आन्दोलन अगर नहीं होते तो ऐसा होना कदापि सम्भव नहीं था। ब्राह्मण धर्म में इस सबसे आत्मावलोकन की प्रवृत्ति का विकास हुआ। जो हमें भावी इतिहास में दिखाई देती है। इन दोनों ही धर्मों का आधार इतना मजबूत था कि वर्तमान में देश एवं विदेश में इन धर्मों का अस्तित्व बना हुआ है।

सन्दर्भ :-

1. के.सी. श्रीवास्तव- प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति पृष्ठ-840
2. The Age of Imperial Unity - M. A. Ghatge, भारतीय विद्या भवन श्रृंखला, पृष्ठ 412
3. The Age of Imperial Unity - Page - 413
4. राधाकृष्णन्- भारतीय दर्शन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 300
5. R. C. Muzumdar - Ancient India
6. राधाकृष्णन- उपर्युक्त पृष्ठ
7. Stivension - The Heart of Jainism 18,19
8. रोमिला थापर- भारत का इतिहास, पृष्ठ 47।
9. वायु पुराण- 4, 24, 20
10. पार्जिटर- Dynasties of the kali Age, पृष्ठ 20-21
11. के.ए. नीलकण्ठ शास्त्री- Age of the Nandas the Mauryar, पृष्ठ-5

प्राप्त : 15.11.06

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेखकों हेतु संदेश

1. अर्हत् वचन में जैन धर्म/दर्शन के वैज्ञानिक पक्ष तथा जैन इतिहास एवं पुरातत्व से सम्बन्धित मौलिक, शोधपूर्ण एवं सर्वेक्षणात्मक आलेखों को प्रकाशित किया जाता हैं।
2. शोध की गुणात्मकता एवं मौलिकता के संरक्षण हेतु दो प्राध्यापकों अथवा पारम्परिक विषय विशेषज्ञों से परीक्षित करा लेने के उपरान्त ही आलेख अर्हत् वचन में प्रकाशित किये जाते हैं।
3. शोध आलेखों के अतिरिक्त संक्षिप्त टिप्पणियाँ, अकादमिक संगोष्ठी/सम्मेलनों की सूचनाएँ/आख्याएँ, आलेख एवं पुस्तक समीक्षाएँ भी प्रकाशित की जाती हैं।
4. अर्हत् वचन में प्रकाशित किये जाने वाले समस्त लेख इस अपेक्षा से प्रकाशित किये जाते हैं कि वे न तो पूर्व प्रकाशित हैं एवं न अन्यत्र प्रकाशनार्थ प्रेषित हैं। यदि पूर्व प्रेषित कोई लेख अन्यत्र प्रकाशित हो चुका है तो माननीय लेखकों को इसकी सूचना हमें तत्काल अवश्य भेजनी चाहिये।
5. लेखकगण यदि पुस्तक या लेख से सन्दर्भ ग्रहण करते हैं तो उन्हें सम्बद्ध लेख/पुस्तक का पूर्ण सन्दर्भ देना चाहिये। लेख का शीर्षक, प्रकाशित करने वाली पत्रिका का नाम प्रकाशन स्थल, वर्ष, अंक, पृष्ठ संख्या अथवा पुस्तक का नाम, लेखक, प्रकाशक, संस्करण, प्रकाशन वर्ष, आवश्यकतानुसार अध्याय, गाथा, पृष्ठ संख्या आदि। समान सन्दर्भ की पुनरावृत्ति होने पर बाद में संक्षिप्त नाम प्रयोग में लाया जा सकता हैं। उदाहरणार्थ :-

   जैन, अनुपम, बीसवीं शताब्दी में जैन गणित के अध्ययन की प्रगति, अर्हत् वचन (इन्दौर) 14 (2-3) अप्रैल - सितम्बर 2002, 51-68

   विद्यानन्द मुनि (आचार्य), तत्वज्ञान और मुनि, अर्हत् वचन (इन्दौर), 19 (1-2), जनवरी - जून 07, 3-6
6. लेखकगण अपने आलेख की दो प्रतियाँ टंकित एक पृष्ठीय सारांश सहित भेजने का कष्ट करें। प्रथम पृष्ठ पर लेख का शीर्षक, लेखक/लेखकों के नाम एवं पत्राचार के पूर्ण पते होने चाहिये। अन्दर के पृष्ठों पर लेखक/लेखकों के नाम न दें। कृपया हिन्दी के आलेख एम.एस वर्ड में कृतिदेव फोन्ट में टाइप करके सी.डी. में भेजेंगे तो प्रकाशन में सुविधा रहेगी।
7. लेख के साथ लेख के मौलिक एवं अप्रकाशित होने का प्रमाण पत्र अवश्य संलग्न करें एवं अर्हत् वचन में प्रकाशन के निर्णय होने तक अन्यत्र प्रकाशनार्थ न भेजें।

-डॉ. अनुपम जैन

सम्पादक-अर्हत् वचन

मानद् सचिव-कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ

584, महात्मा गांधी मार्ग, तुकोगंज, इन्दौर - 452001

फोन : 0731-2545421, 2797790

मोबाइल : 094250-53822

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 19, अंक - 3, जुलाई-सित., 07, 47 - 58

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

दक्षिण भारत के राजवंश एवं उनका जैन संस्कृति को योगदान

■ रजनी जैन *

सारांश

प्रस्तुत आलेख में विदुषी लेखिका ने दक्षिण भारत के विभिन्न जैन धर्मानुयायी राजवंशों, राजाओं उनके राज्यकाल में साहित्य सृजन करने वाले जैनाचार्यों तथा उनके कृतित्व की विस्तार पूर्वक चर्चा की है।

- सम्पादक

दिव्यता, भव्यता एवं उत्कृष्ट कला का यदि एक ही मूर्ति में समन्वय किया जावे तो वह निःसंकोच अनुपमेय कृति है, कर्नाटक राज्य के हासन जिले के प्रसिद्ध जैन तीर्थ श्रवणबेलबगोला में विन्ध्यगिरि पर्वत पर भूरे श्वेत वर्ण के ग्रेनाइट पाषाण की 57 फीट ऊँची गोम्मटेश्वर बाहुबली की एक ही शिला से निर्मित विश्व प्रसिद्ध मूर्ति है। जो भारतीय मूर्तिकला की श्रेष्ठ प्रतीक है। भगवान बाहुबली अपनी स्वतंत्र स्वाभिमानी वृत्ति, बल पराक्रम, शरीर सौष्ठव तथा घोर तपस्या के कारण जैन धर्मावलम्बियों में विशेष श्रद्धा प्राप्त हैं और इस अद्वितीय, विशाल एक पाषाणीय मूर्ति ने तो उन्हें देश - विदेश में पूजित-वंदनीय कर दिया है।

गंगवंश के यशस्वी पुरुष चामुण्डराय जो मारसिंह द्वितीय एवं राचमल्ल चतुर्थ के मंत्री थे उन्होंने अपनी माता कालकदेवी की इच्छा पर गोम्मटेश्वर भगवान बाहुबलि की मूर्ति का निर्माण 10 वीं शताब्दी में कराया।[1] अरिष्टनेमि (शिल्पी) का परिश्रम एवं चामुण्डराय की मातृ भक्ति एवं श्रद्धा ही मूर्ति में एकाकार होकर दिव्यता को आज प्रकट कर रही है। इतिहास पर दृष्टिपात करने से मूर्ति का प्रतिष्ठा वर्ष 978 ई. और 990 ई. के मध्य होना चाहिए क्योंकि चामुण्डराय का निधन 990 ई. के लगभग हुआ था।[2] मूर्ति की प्रतिष्ठा चामुण्डराय के गुरु नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती द्वारा सम्पन्न हुई थी। वह स्नेह से चामुण्डराय को गोम्मट कहा करते थे। चामुण्डराय ने उनसे निवेदन किया कि जैन सिद्धान्त को समझने के लिये वह सिद्धान्त विषयों का सार संक्षेप में लिख दें जिससे वह विषय समझ में आ जाये। इसी निवेदन पर नेमिचन्द्र आचार्य ने षट्खण्डागम के 6 खण्डों का सार पंचसंग्रह नामक प्राकृत भाषा में ग्रंथ लिखकर उस प्रसिद्ध ग्रंथ का नाम चामुण्डराय के गोम्मट नाम के कारण 'गोम्मटसार' प्रचलित कर दिया।

चामुण्डराय कुशल सेनापति तथा मंत्री थे, उन्होंने युद्ध में शत्रुओं को परास्त कर अनेक उपाधियाँ अर्जित की-

रोडग के युद्ध में बज्जलदेव को पराजित कर **''समर धुरन्धर''**, गोनूर के युद्ध में नोलम्बों को पराजित करने पर **''वीर मार्तण्ड''** उच्छंगि के दुर्ग में राजादित्य को त्रस्त करने पर **''रणरंगसिंह''**, बागेयुर के दुर्ग में त्रिभुवन वीर को समाप्त करने एवं गोविन्दर को उस दुर्ग में प्रविष्ट कराने के लिये **''वैरीकुलकालदण्ड''** तथा अन्य मुद्दों में विजय प्राप्त करने के लिये **''भुजविक्रम''**, **''भट्टमारि''**, **''प्रतिपक्ष राक्षस''**, **''नोलम्बकुलान्तक'' समरकेशरी, सुभटचूडामणि, समर परशुराम** आदि उपाधियाँ प्राप्त हुई थी।[3]

उन्होंने अपने कौशल एवं पराक्रम से नोलम्बों, चालुक्यों एवं बज्जलों को अनेक बार परास्त कर हमेशा जैन धर्मावलम्बी गंग नरेशों की रक्षा की तथा उनके स्वामी राष्ट्रकूट सम्राटों का भी संरक्षण किया।

* शोध छात्रा - कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, 584 महात्मा गाँधी मार्ग, इन्दौर 452 001

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह कुलगुरु अजितसेनाचार्य तथा विद्यागुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के परम भक्त थे। अपने सदाचारी धार्मिक जीवन के कारण उन्हें **'सम्यकत्वरत्नाकर, शोभाचरण, सत्ययुधिष्ठर, देवराज, गुणकाव, गुणरत्नभूषण** जैसी उपाधियाँ भी मिली थी।

ज्ञानोपार्जन में भी चामुण्डराय को विशेष रुचि थी। कन्नड़, संस्कृत, प्राकृत भाषाओं के विद्वान थे। उनके द्वारा रचित पुस्तकों के नाम हैं -

1. वीर मार्तण्डी 2. चरित्रसार 3. त्रिशष्ठी लक्षणपुराण।

यह तो हुई गोम्मटेश्वर भगवान बाहुबली के निर्माता चामुण्डराय की पृष्ठभूमि इसके अतिरिक्त और भी दक्षिण भारत में अनेक ऐसे राजवंश हुए हैं जिन्होंने जैन संस्कृति एवं जैन धर्म के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर किया है उन वंशों में प्रमुख वंश हैं -

राष्ट्रकूटवंश, गंगवंश, चालुक्यवंश, होयसलवंश, वोडेयार राजवंश, चंगलववंश, नुग्गेहल्लि के तिरूमल नायक, कदम्बवंश, पल्लववंश, चोलवंश, निडगुलवंश आदि।

इन वंशों के नरेशों उनके अमात्यों, सेनापतियों, श्रेष्ठियों के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे उनके जैनधर्म प्रेम, पराक्रम, साहस, शौर्य, समरकुशलता, विद्वत्ता, दानशीलता आदि का परिचय मिलता है।

श्रवणबेलगोला नगर तथा समीपस्थ ग्रामों में उत्कीर्ण लगभग 573 शिलालेखों में से लगभग 100 लेखों में मन्दिर के निर्माण, मूर्ति प्रतिष्ठा, दानशाला, सरोवर उद्यान आदि के निर्माण से तथा तत्वर्ती काल अथवा पूर्वकाल के दक्षिण क्षेत्र के जैन धर्मावलम्बियों तथा जैन धर्म से प्रभावित नरेशों, अमात्यों, सेनापतियों श्रेष्ठियों आदि के विषय में तथा विन्ध्यगिरि पर अमात्य चामुण्डराय द्वारा निर्मित एक ही विशालखण्ड से 57 फीट ऊँची मूर्ति के उत्कीर्ण कराने तथा विन्ध्यगिरि व चन्द्रगिरि पर अनेक जैन वसदियों (मन्दिर) स्तम्भों आदि के निर्माण के विषय में ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई है।[4] इससे यह भी ज्ञात होता है कि किस राजा या सेनापति के काल में कौन से जैनाचार्य थे और कौनसा नरेश अमात्य अथवा श्रेष्ठी किन जैन आचार्य अथवा साधु का शिष्य था। इन शिलालेखों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन संस्कृति पूर्व में भी भारतव्यापी तथा जैनधर्म अनेक नरेशों द्वारा सम्मानित था।

1. **चालुक्य वंश** – दूसरी शती ई. के उत्तरार्द्ध में पल्लव, कदम्ब और गंग तीन नवीन राजवंशों की स्थापना हो चुकी थी। तीसरी से छठी शताब्दी ई. पर्यन्त दक्षिण भारत का इतिहास इन्हीं 3 राज्यों के संघर्ष का इतिहास रहा था। तीसरी से चौथी शताब्दी में कांची के पल्लव राजे सर्वाधिक शक्तिशाली रहे और सम्राट कहलाये, 4थी, 5वीं शताब्दी में वनवासी के कदम्बों का वैसा ही चरमोत्कर्ष हुआ और 5वीं, 6ठी शताब्दी में तलकाड के गंगनरेश दक्षिण भारत के सर्वाधिक शक्तिशाली एवं प्रतापी सम्राट थे, किन्तु 5वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महाराष्ट्र प्रदेश में एक नवीन राजशक्ति का उदय हुआ जिसने छठी शताब्दी में बल पकड़ा और 7वीं शताब्दी में दक्षिण के ही नहीं सम्पूर्ण भारतवर्ष के सर्वाधिक शक्तिशाली एवं समृद्ध साम्राज्य में परिवर्तित हो गई। यह राजशक्ति चालुक्यों की थी और वातापि (बदामी) के पश्चिमी चालुक्य वंश के रूप में इसका जन्म हुआ था।

2. **राष्ट्रकूट वंश** – राष्ट्रकूट वंश का जैनधर्म के संरक्षण में विशेष योगदान रहा। 8वीं शती ई. में वातापी के चालुक्यों के पश्चात् दक्षिण भारतीय साम्राज्य का उत्तराधिकार राष्ट्रकूट वंश को प्राप्त हुआ। ये राष्ट्रकूट दक्षिणपंथ के प्राचीन रट्ठिकों (राष्ट्रिकों) के वंशज थे तथा अपने आपको चन्द्रवंशीय क्षत्रिय कहते थे। इनकी एक शाखा लट्टलूर (पूर्व निजाम रियासत के बीदर जिले में एक स्थान) में स्थापित थी। कतिपय लेखों में इसी कारण उन्हें लट्टलूरपुरावराधिश्वर कहा गया है। 625ई. के लगभग लट्टलूर के राष्ट्रकूट बराबर प्रदेश के एलिचपुर (एलौरा) में आ बसे थे। यहीं से इस शाखा का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदय हुआ। इस शाखा के प्रथम राजा दन्तिवर्मन थे। उसके उत्तराधिकारी क्रमशः हुए -

I. दंतिवर्मा	- (650-670 ई.)	II. इन्द्रराज प्रथम	- (670-690 ई.)
III. गोविन्दराज प्रथम	- (690-710 ई.)	IV. कर्कराज प्रथम	- (710-730 ई.)
V. इन्द्रराज द्वितीय	- (730-745 ई.)	VI. दन्तिदुर्ग द्वितीय	- (745-756 ई.)
VII. कृष्णराज प्रथम	- (756-775 ई.)	VIII. गोविन्दराज द्वितीय	- (730-745 ई.)
IX. ध्रुवराज द्वितीय	- (780 ई.)	X. गोविन्दराज तृतीय	-
XI. अमोघवर्ष प्रथम	- (821 ई.)	XII. कृष्णराज द्वितीय	- (900 ई.)
XIII. इन्द्रराज तृतीय	- (915 ई.)		

अमोघवर्ष द्वितीय	गोविन्द चतुर्थ
अमोघवर्ष तृतीय	कृष्णराज तृतीय (940 ई.)
अमोघवर्ष चतुर्थ (968 ई.)	कर्क द्वितीय (972 ई.)
इन्द्रराज चतुर्थ (982 ई.)	

इनका राज्य एक समय उत्तर भारत में कन्नौज तक और दक्षिण भारत में मैसूर तक फैला हुआ था। राष्ट्रकूट वंश के शिलालेखों में उसे एक उत्तम और संसार में प्रसिद्ध राष्ट्रकुल कहा है। इसका उल्लेख रट्ट, राष्ट्रवर्म, राष्ट्रोर (राठोर) नामों से भी शिलालेखादि में मिलता हैं।[5]

इन्द्रराज द्वितीय के पुत्र दन्तिदुर्ग ने 742 ई. के लगभग एलौरा पर अधिकार किया और उसे राजधानी बनाया। एलौरा उस समय जैन, शैव, वैष्णव, बौद्ध चारों ही धर्मों व संस्कृति का केन्द्र था। 757ई. में उसने वातापी चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मन को पराजित कर अनेक उपाधियाँ धारण की और अपने आपको सम्राट घोषित कर दिया। युद्धों में अनेक नरेशों को परास्त किया तथा लगभग सम्पूर्ण दक्षिणापथ का सम्राट बन गया। उसी समय प्रसिद्ध जैन आचार्य वीरसेन हुए, जिन्होंने वाटग्रामपुर में निर्मित गुहा मन्दिर में तथा एलौरा में निर्मित चामरलेनी गुफा में साधना एवं साहित्य रचना की। 752ई. में दन्तिदुर्ग की निःसंतान मृत्यु होने पर उसके चाचा कृष्णराज प्रथम अकालवर्ष शुभतुंग सिंहासन पर बैठा। उसका राज्यकाल 757 से 773 ई. तक रहा। उसी ने 758 ई. में एलौरा का विश्वप्रसिद्ध गुहा मन्दिर 'कैलाश मन्दिर' पर्वत में से काट कर बनवाना शुरू किया जो लगभग 150 वर्षों में पूर्ण हुआ। गुहा मन्दिर, इन्द्रसभा, जगन्नाथ सभा आदि के निर्माण का श्रेय राष्ट्रकूटवंशी तथा ऐलवंशी नरेशों को प्राप्त है। ध्रुवराज की राजधानी में स्वयंभू महाकवि (अपभ्रंश) ने रामायण, हरिवंश आदि अनेक ग्रंथों की रचना की। उसी काल में जैनाचार्य वीरसेन, विद्यानंदि आचार्य, परवादिमल्ल एवं गुरु कुमारसेन प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए। इसकी राजधानी के समीप बाटनगर में पंचस्तूपान्वयी स्वामी वीरसेन का प्रसिद्ध जैन केन्द्र था, जिसमें शिष्य समुदाय शिक्षा पाता था उसी काल (780 ई.) में वीरसेन आचार्य ने महान ग्रंथ श्री धवल को पूर्ण किया और उसके पश्चात् जयधवला का एक तिहाई भाग लिखा था महाधवल की रूपरेखा तैयार की। उसी समय (783 ई.) में आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण की रचना की।

ध्रुवराज का पुत्र गोविन्द तृतीय भी एक शौर्यशाली, जैनधर्म के प्रति सहिष्णु उदार नरेश था। इसने विद्यानन्दि, अनन्तकीर्ति, अनन्तवीर्य, त्रिभुवन, स्वयंभू आदि प्रसिद्ध जैनाचार्यो-विद्वानों का सम्मान किया, जिससे उसके शासनकाल में जैनधर्म विकसित हुआ।[6]

कर्कराज की वीरता, बुद्धिमत्ता, तत्परता, स्वामीभक्ति भी प्रसिद्ध है। जैन धर्मानुयायी अमोघवर्ष (821ई.) उस समय संसार के चार महान सम्राटों में एक प्रतापी सम्राट माना जाता था। तीन अन्य प्रतापी सम्राट थे - चीन का सम्राट, बगदाद का खलीफा, रूस का सम्राट। आचार्य जिनसेन इसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजगुरु एवं धर्मगुरु थे। जिनसेन ने अपने गुरु वीरसेन द्वारा अधूरे छोड़े जयधवल को पूर्ण किया तथा संस्कृत में पार्श्वाभ्युदय, महापुराण की रचना की। उनका निधन 850 ई. के लगभग हुआ था तब इनके शिष्य आचार्य गुणभद्र ने महापुराण को पूर्ण किया तथा उत्तरपुराण व अन्य ग्रंथों की रचना की। अमोघवर्ष स्वयं भी विद्वान था उसने संस्कृत में 'प्रश्नोत्तर रत्नावली' नीति ग्रंथ तथा कन्नड़ में 'कवि राजमार्ग' नामक छंद-अलंकार ग्रंथ रचे। उसका सेनापति बंकेयरस भी जैन था। उसके राज्यकाल में जैनधर्म को राष्ट्रधर्म का रूप प्राप्त हो गया था।

कृष्णराज, इन्द्रराज आदि भी जैनधर्म के अनुयायी थे। इस तरह राष्ट्रकूट वंश का शासन लगभग 250 वर्ष रहा। इसके अधिकांश नरेश उनके परिवार, अधिनस्थ राजा, सामंत सरदार, अमात्य मंत्री, सेनापति उस समय जैन धर्म के अनुयायी थे। लगभग दो तिहाई जनता भी जैन धर्मावलम्बी थी। ऐसा वहाँ के लेखों से पता चलता है। जिन्होंने मन्दिर, मठों आदि का निर्माण कराया।

राष्ट्रकूट वंश के राजाओं का वैवाहिक सम्बन्ध कलचूरी, गंग आदि जिन राजवंशों से था, वे भी जैनधर्म के अनन्य भक्त और संरक्षक थे। यही कारण है कि राष्ट्रकूट राजाओं को भी जैनधर्म से प्रेम था और उनमें से कई राजाओं ने दीक्षा ली। कई जैनाचार्य उनके गुरु थे, और कई विद्वानों का उन्होंने सम्मान किया। चोलों से उनके जो युद्ध हुए, वह धर्मयुद्ध कहे जा सकते हैं क्योंकि चोल शैव थे और राष्ट्रकूट जैनधर्म के संरक्षक थे।

राष्ट्रकूट के नरेशों ने अनेक प्रसिद्ध जैनाचार्यों का सम्मान किया। उन आचार्यों द्वारा धर्म प्रसार हुआ। राष्ट्रकूट नरेशों की छत्रछाया में लगभग 100 ग्रंथकारों ने, जो प्रायः दिगम्बर थे, लगभग 200 ग्रंथों की रचनी की। इन ग्रंथों में लगभग 110 संस्कृत, 35 प्राकृत, 20 कन्नड़, 15 अपभ्रंश और तमिल भाषा के हैं।[8] धवल जयधवल जैसी आगमिक टीकाओं के अतिरिक्त सिद्धान्त तत्व, अध्यात्म, दर्शन, न्याय, कथा, भक्ति स्तोत्र, मंत्र आदि विषयों पर साहित्य सृजन हुआ। साथ ही व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, प्राणी विज्ञान, राजनीति जैसे लौकिक विषयों पर भी अनुपम साहित्य रचना हुई।

पाँचवी शती ई. के मध्य लगभग महाराष्ट्र प्रदेश में इस राजशक्ति का उदय हुआ, छठी शती में उसने बल पकड़ा और सातवीं में दक्षिणापथ के ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण भारतवर्ष में उस काल के सर्वाधिक शक्तिशाली एवं समृद्ध साम्राज्य में वह परिणत हो गयी। वंश का मूल पुरुष अयोध्या का सोमवंशी क्षत्रिय बताया जाता है, जो अपने भाग्य की परीक्षा के लिये दक्षिण आया इस वंश में सर्वप्रथम नाम विजयादित्य मिलता है जो उसी व्यक्ति अथवा उसके पुत्र का नाम था। उसने पल्लवराज के एक छोटे से भाग पर अधिकार करके अपनी शक्ति बढ़ानी शुरू की, किन्तु पल्लवों के साथ युद्ध में मारा गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र जयसिंह जो जन्म के साथ नाथ और राज्यविहीन था, किन्तु वयस्क होते ही उसने ऐसा साहस, शौर्य और पराक्रम दिखाया कि गंग दुर्विनीत ने उसे अपनी छत्रछाया में ले लिया, उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया और पल्लवों के विरुद्ध युद्धों में उसकी सहायता की। अन्ततः वातापी को राजधानी बनाकर चालुक्य राज्य की सुदृढ़ नींव जमाने में जयसिंह सफल हुआ और विष्णुवर्द्धन राजसिंह रणपराक्रमांक जैसे विरुद उसे प्राप्त हुए। वातापी (बादामि) अल्तेम, ऐहोल उसके राज्य के प्रसिद्ध नगर थे, और यहाँ जैनो की अच्छी बस्ती थी। जयसिंह की मृत्यु चन्द्रदण्ड पल्लव के साथ युद्ध में हुई। तब दुर्विनीत गंग ने उसके पुत्र रणराग **एरेय्य** सत्याश्रय को सिहांसन पर प्रतिष्ठित किया और भीषण युद्ध में चन्द्रदण्ड पल्लव को मार डाला।[9] रणराग का पुत्र हुआ सत्याश्रय पुलकेशी प्रथम वास्तव में यही इस वंश का प्रथम नरेश एवं सही राज्य संस्थापक माना जाता है इसका काल 532 ई. से 565 तक रहा।[10] इसके पश्चात् उत्तराधिकारी हुए-कीर्तिमान (565-597 ई.) इसके काल में जैनाचार्य विकीर्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने 585 ई. में मेघुटी में जैन मन्दिर बनवाया एवं विशाल जैन विद्यापीठ की स्थापना की। यह जिनभक्त था। 597 ई. में उसकी मृत्यु के बाद भाई मंगलीश ने 597 ई. से 608 ई. तक राज्य किया। वह विष्णु भक्त था। उसके पश्चात् कीर्तिवर्मन के पुत्र पुलकेशिन द्वितीय ने मंगलीश को समाप्त कर सिंहासन पर अधिकार किया। वह जैनधर्म का महान संरक्षक सम्राट रहा। इसके गुरु आचार्य विकीर्ति (रविभद्र) थे। इसके शौर्य एवं सैनिक शक्ति के कारण सम्राट हर्षवर्द्धन दक्षिण में नहीं बढ़ पाया था। आन्ध्र प्रदेश में पिष्टपुर को विजित कर उसने 615 ई. में अपने छोटे भाई कृष्ण विष्णुवर्द्धन को उसका शासक नियुक्त किया जिसके कारण वेंगि की 5वीं चालुक्य शाखा आरम्भ हुई।

पुलकेशी ने पल्लव नरेश महेन्द्र वर्मन को परास्त कर काचीवरम का अधिकार कर लिया था कावेरी को पार कर चोलों, केरलों एवं पाण्ड्य नरेशों को अपना मित्र बना लिया था।

इसी के काल में जैनाचार्य अकलंकदेव हुए, जिन्होंने बौद्ध विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया जिसके कारण उन्हें 'भट्ट' उपाधि से विभूषित किया गया। अकलंकदेव तत्वार्थ राजवार्तिक, अष्टशती, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, लघीस्त्रय, प्रमाणसंग्रह आदि अनेक प्रसिद्ध न्याय के ग्रंथों के रचयिता थे। पुलकेशी का पुत्र उन्हें 'पूज्यपाद' कहता था। पुलकेशी के राज्य में बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म अधिक अच्छी स्थिति में था। (641-642 ई.) में पल्लव नरेश नरसिंह वर्मन द्वारा आक्रमण कर देने से उसमें उसकी मृत्यु हो गई। उत्तराधिकारी विक्रमादित्य के राज्य में राज्य की स्थिति ठीक नहीं थी। पल्लवों द्वारा युद्ध तथा लूटमार के कारण अराजकता फैल गई थी। लेकिन अपने साहस एवं कौशल से पाण्ड्य नरेश माखर्मन तथा गंग की सहायता से नरसिंहवर्मन को परास्त कर अपना राज्य वापिस लिया। आचार्य अकलंकदेव इसके गुरु थे। (680 ई.) में इसकी मृत्यु के पश्चात पुत्र विनयादित्य (680-696 ई.) सिंहासनरूढ़ हुआ। उसके बाद उसका पुत्र विजयादित्य (697-733 ई.) शासक हुआ। इन नरेशों ने अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया। पुष्पसेन, विमलचन्द्र, कुमारनन्दि, अनन्तवीर आदि आचार्य उसी काल में हुए। उसकी मृत्यु पर उसका पुत्र विक्रमादित्य द्वितीय (733-744 ई.) में सिंहासन पर बैठा। जैनधर्म भक्त इस नरेश में शंख जिनालय व धवल जिनालय आदि मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, तथा जिन पूजन के लिये भूमि दान दी। उसका पुत्र कीर्तिवर्मन द्वितीय (744-757 ई.) इस वंश का अन्तिम नरेश हुआ। यह भी जैन भक्त था। राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग ने 753 ई. में कीर्तिवर्मन को पराजित कर वातापी के पश्चिमी चालुक्य राज्य का अंत कर दिया।[11]

कीर्तिवर्मन नि:संतान था, कीर्तिवर्मन तृतीय, तैल प्रथम, विक्रमादित्य तृतीय, अय्यन प्रथम, विक्रमादित्य चतुर्थ राष्ट्रकूटों के अधीन गौण सामन्तों या उपराजाओं की भांति चलते रहे। अन्तिम के पुत्र तैल द्वितीय ने 10वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रकूटों का अंत करके चालुक्य शक्ति का पुनरुद्धार किया और कल्याणी के उत्तरवर्ती चालुक्यवंश की स्थापना की। वातापि के चालुक्य जैनधर्म के आस्थावान होते हुए भी शैव-वैष्णवादि धर्मों के प्रति उदार-सहिष्णु थे। बौद्धधर्म इस काल में पतनोन्मुख था।[12]

वेंगि के पूर्वी चालुक्य - तैलप द्वितीय की वंश परम्परा में उत्पन्न नरेश जयसिंह प्रथम (1015-1040 ई.) जिनधर्म सेवी रहा। इसी काल में आचार्य वादिराज, दयापाल, पुष्पसेन सिद्धान्तदेव हुए। जयसिंह ने आचार्य वादिराज को 'जगदेकमल्ल' उपाधि प्रदान की थी। वलिपुर नामक स्थान में जयसिंह ने भगवान शांतिनाथ की प्रतिष्ठा करायी थी। इसके बाद आवाहमल्ल सोमेश्वर प्रथम (1043-1068 ई.) ने त्रिभुवन तिलक आदि जैन मन्दिरों का निर्माण कराया। उसका भाई विक्रमादित्य षष्टम भी जिन भक्त था। जिसने गंग पेमेनिडि चैत्यालय का निर्माण कराया था। उसने श्रवणबेलबगोला के समीप अनेक जिनालयों का निर्माण कराया था। जिन्हें बाद में राजाधिराज चोल ने नष्ट करवा दिया था।

चालुक्य नरेशों का राज्यकाल 500 वर्ष से अधिक रहा जिसमें कतिपय नरेश जिनधर्म सेवी रहे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और उनके समय में जैनधर्म फला-फूला। यद्यपि अधिकतर चालुक्य नरेश शिव एवं विष्णु भक्त था, किन्तु धर्म सहिष्णु होने के कारण उन्होंने उदारतापूर्वक जैन मंन्दिरों का निर्माण व उनकी व्यवस्था के लिये योगदान दिया तथा सम्प्रदाय निरपेक्षता के आधार पर जैनधर्म को संरक्षण दिया।

1040 ई. के लगभग जयकीर्ति छंदोनुशासन (संस्कृत) के रचनाकार थे। 11वीं शताब्दी में ही श्रीधर एक प्रसिद्ध गणितज्ञ हुए हैं उन्होंने 1049 ई. में **'जातक तिलक'** ज्योतिष विषयक ग्रंथ लिखा, जो नक्षत्र विद्या पर महत्वपूर्ण शोध प्रबन्ध है। ये श्रीधर ज्योतिर्ज्ञान विधि एवं त्रिंशतिका के रचयिता श्रीधर से भिन्न है। उनकी चन्द्रप्रभुचरित्र कृति अनुपलब्ध है। उनके आश्रयदाता नरेश अहवमल्ल अथवा सोमेश्वर प्रथम थे (1043-680 ई.) नरेश कीर्तिवर्मा ने **'गौ वैद्य'** नामक पशु रोग चिकित्सा सम्बन्धी ग्रंथ लिखा। इससे ज्ञात होता है कि उस समय राजकुमारों को सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। उसने जैनधर्म के पुनरुत्थान के लिये बहुत कार्य किया।[13]

वेंगि के पूर्वी चालुक्य – सन् 615 ई. में चालुक्य सम्राट, पुलकेशी द्वितीय ने आन्ध्रप्रदेश की विजय करके अपने अनुज कुब्जविष्णुवर्धन को उसका शासक नियुक्त किया था। वेंगि इस देश की राजधानी थी। कुब्जविष्णुवर्धन से प्रारम्भ होने वाले इस वंश में लगभग 27 राजा हुए और उन्होंने लगभग 500 वर्ष तक राज्य किया। कुब्जविष्णुवर्धन कुशल चतुर शासक था, उसने अपने वंश की नीव सुदृढ़ की थी। चालुक्यों की इस पूर्वी शाखा में भी मूलवंश की भांति जैनधर्म की प्रवृत्ति थी। इसके बाद जयसिंह प्रथम, विष्णुवर्धन द्वितीय, जयसिंह द्वितीय, विष्णुवर्धन तृतीय क्रमशः राजा हुए। अन्तिम नरेश ने जैनाचार्य कलिभद्र का सम्मान किया था। उसके पुत्र विजयादित्य प्रथम की महारानी अय्यन महादेवी ने 762 ई. में दानपत्र की पुनरावृत्ति की थी। इसके बाद विष्णुवर्धन चतुर्थ (764-799 ई.) वेंगि राज्य का स्वामी हुआ। यह जैनधर्म का भक्त था। इसके काल में विजगापट्टम (विशाखापट्नम) जिले की रामतीर्थ पहाड़ियों पर एक जैन सांस्कृतिक केन्द्र था। यह पर्वत अनेक जैन गुहा मन्दिरों, जिनालयों एवं अन्य धार्मिक कृतियों से सुशोभित था। अनेक विद्वान जैन मुनि यहाँ निवास करते थे। विविध विधाओं एवं विषयों की उच्च शिक्षा के लिये यह संस्थान महान विद्यापीठ था। इस काल में जैनाचार्य श्री नंदि इस विद्यापीठ के प्रधानाचार्य थे जो आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों में निष्णात थे। स्वयं विष्णुवर्धन उनकी पूजा करते थे। इन आचार्य के शिष्य उग्रादित्याचार्य थे जो आयुर्वेद एवं चिकित्सा शास्त्र के विद्वान थे। **सन् 799 ई. के कुछ ही पूर्व उन्होंने अपने प्रसिद्ध वैद्यक ग्रंथ कल्याणकारक की रचना की थी।**

तदुपरांत विजयादित्य द्वितीय (799-847 ई.) कलिविष्णुवर्धन पंचम, विजयादित्य (848-892 ई.) हुए चालुक्य भीम प्रथम (892-922 ई.) हुए। अम्म प्रथम (922-929 ई.) भीम द्वितीय, अम्म द्वितीय क्रमशः राजा हुए अम्म द्वितीय प्रतापी और धर्मात्मा नरेश था सन् 945-970 ई. तक इसने राज्य किया। यह अपने पूर्वजों की भांति जैनधर्म का पोषक और संरक्षक था। इसके शासन काल में (10वीं शती) जैन धर्म आन्ध्र प्रदेश में अत्यधिक लोकप्रिय व उन्नत था। एक लेखानुसार इसने पट्टवर्धक घराने की राजमहिला माचकाम्बे के निवेदन पर अर्हनन्दी को 'सर्वलोकाश्रय जिनभवन' के लिये दान दिया था। अम्म का प्रधान सेनापति दुर्गराज था जिसकी चालुक्य-लक्ष्मी की सुरक्षा के लिये तलवार हमेशा म्यान से बाहर रहती थी। वह पूर्वी चालुक्य राज्य का शक्ति स्तम्भ कहा जाता था। यह वंश जैनधर्म का अनुयायी था।[14]

कल्याणी के उत्तरवर्ती चालुक्य - 10वीं शती के अन्तिम वर्ष भारतीय इतिहास में घटना पूर्ण थी। अनेक राज्यों में उलटफेर हुई, कई नरेशों की मृत्यु हुई, नयों के राज्याभिषेक हुए कई स्थानों में राज्य एवं वंश परिवर्तन हुए। वस्तुतः जैन परम्परा के अनुसार यह युग दूसरे उपकल्कि के अंत का सूचक था। दक्षिण भारत में इस काल में महान राजक्रांति हुई। 967 ई. में राष्ट्रकूट सम्राट कृष्ण तृतीय नर्मद के दक्षिणवर्ती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूभाग का एक छत्र स्वामी था, किन्तु दिसम्बर 973 में उसका सम्पूर्ण राज्य उसके भतीजे कर्क द्वितीय के हाथों छिन गया और 250 वर्ष से चला आया विशाल शक्तिशाली राष्ट्रकूट साम्राज्य एक स्मृति बन कर रह गया। उसके स्थान में वातापि के प्राचीन पश्चिम चालुक्य वंश का पुनरुत्थान हुआ और इसका श्रेय चालुक्य वीर तैलप को है। वह एक पराक्रमी योग्य नरेश था विद्वान गुणी पुरुषों का वह आदर करता था। वह सर्व धर्म सहिष्णु उदारदानी नरेश था जैन धर्म के साथ उसकी श्रद्धा वैसी ही थी जैसी पूर्ववर्ती कदम्बों, गंगों, पश्चिमी चालुक्यों एवं राष्ट्रकूटों की। कोगलि नामक स्थान में स्थित चेन्नपार्श्ववसदि का सन् 992 ई. का शिलालेख सूचित करता है कि यह जैनधर्म अनुयायी राजा था। कन्नड़ का जैन महाकवि रत्नाकर उसका राजकवि था। महामंत्री धल्ल, सेनापति मल्लप आदि भी जिन भक्त थे। नागदेव की पत्नी साहित्य सेवा, धर्मप्रभावनारत अहिमब्बे ने महाकवि पोन्न के शांतिपुराण की 1000 प्रतियाँ वितरित की थी, तथा स्वर्ण मणि-माणिक्यादि की 1500 जिन मूर्तियाँ बनवाकर विभिन्न मन्दिरों में स्थापित की थी। अनेक मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया और 4 प्रकार का दान अनवरत दिया। धर्म कार्यों में सम्राट की अनुमति प्रसन्नता एक सहायता थी।

इसका उत्तराधिकारी पुत्र सत्याश्रय इरिव बेदेंग (997-1009 ई.) था। चोलों की तरह यह भी जैन धर्म का भक्त था। सत्याश्रय ने एक जैन गुरु की स्मृति में अगदि नामक स्थान में भव्य निषद्या निर्माण करायी थी। आगे विक्रमादित्य पंचम, अय्यन द्वितीय, जयसिंह द्वितीय (1014-1042 ई.) राजा हुए। जयसिंह द्वितीय जैन धर्म का विशेष भक्त था, अनेक जैन विद्वानों एवं गुरुओं का उसने सम्मान किया तथा साहित्य निर्माण को प्रोत्साहन दिया। आचार्य वादिराज ने उसकी राजसभा में परवादियों के साथ अनेक शास्त्रार्थ किये। उनकी विजय के उपलक्ष्य में राजा ने उन्हें स्वर्णमुद्रा युक्त जयपत्र तथा 'जगदेकमल्लवादी' उपाधि प्रदान की थी। यशोधरचरित, एकीभाव स्तोत्र तथा अकलंकदेव कृत न्यायविनिश्चय की टीका आदि ग्रंथ भी इन्होंने रचे। अनेक ग्रंथों के रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्र भी इसी समय हुए। चालुक्य जयसिंह का विरुद मल्लिकामोद था और उसने बलिपुर में मल्लिकामोद शान्ति वसदि नामक जिनालय बनवाया था।

तदुपरांत उसका पुत्र सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल (1042-68 ई.) राजा हुआ। उसने चोलो को युद्ध में पराजित किया, उसके हाथों चोल नरेश मारा गया। कोगलि शिलालेख में इस स्याद्वाद मत का अनुयायी लिखा है। सोमेश्वर प्रथम ने जैनाचार्य अजितसेन का सम्मान किया और उन्हें शब्दचतुर्मुख उपाधि प्रदान की। इसका सेनापति (दण्डनाथ) शांतिनाथ भी जैन था। इन्होंने कई जैन मन्दिर बनवाये और उनके लिये दान दिये। 1068 ई. में एक भयानक रोग से पीड़ित होने के कारण इस राजा ने तुंगभद्रा में जल समाधि ली। यह राजा इस वंश के महान नरेशों में से था।

उसका पुत्र सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल (1068-76 ई.) भी चोलो के साथ युद्ध करता रहा। इसने कदम्बों का दमन किया और चोलो पर विजय प्राप्त की। अपने पूर्वजो की भांति यह भी जैन प्रतीत होता है। उसने आचार्य कुलचन्द देव को शांतिनाथ वसदि के लिये भूमि प्रदान की थी और मन्दिर में एक मूर्ति प्रतिष्ठित करायी थी।

1076 ई. में उसका छोटा भाई विक्रम उसे बन्दी करके स्वयं राजा बना। इसने जैनाचार्य वासवचन्द्र का सम्मान करके उन्हें 'बालसरस्वती' उपाधि प्रदान की थी तथा चालुक्य गंग परमानंदि जिनालय नाम का मन्दिर बनवाया था। विभिन्न वसदियों-मठों में विभिन्न भारतीय धर्मों एवं दर्शनों की शिक्षा साथ-साथ दी जाती थी। इस राजा के समय में भारतीय संस्कृति का बहुमुखी संवर्धन हुआ। यह नरेश सर्वधर्म सहिष्णु था और सब धर्मों का प्रतिपालन करता था यद्यपि उसका निजी एवं कुलधर्म जैन धर्म था।

होयसल वंश - पूर्व मध्यकाल में दक्षिण भारत का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण शक्तिशाली राजवंश था। ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोग अपने आपको सोमकुल के यदुवंशी क्षत्रिय बताते थे। होयसलो के पूर्वज अन्तिम राष्ट्रकूटों एवं उत्तरवर्ती चालुक्यों के साधारण श्रेणी के सामन्त मात्र थे।

प्रतापी **होयसल** नरेश जैन धर्म के पालन एवं संरक्षण में प्रसिद्ध रहे हैं। विनयादित्य द्वितीय (1060-1101 ई.) इस वंश का ऐतिहासिक प्रसिद्ध नरेश था, यह जैन धर्मावलम्बी शासक था। होयसल वंश प्रतापी नरेश यशस्वी विष्णुवर्धन (1111-1141 ई.) राज्यकाल के आरम्भिक वर्षो में जैन धर्मावलम्बी था। उससे पूर्व सभी होयसल नरेश जैन धर्मानुयायी थे।[15]

11वीं शती ई. के प्रारंभ में इस वंश का मुखिया सल नामक एक वीर नवयुवक था। 925 ई. के लगभग अंगरदि में कुन्दकुन्दान्वय द्रविड संघ पुस्तकगच्छ के मौनी भट्टारक के शिष्य विमलचन्द पंडित देव ने सन्यासमरण किया था। इस उपलक्ष्य में गंग नरेश इरिवबेडेंग ने वहाँ आकर गुरु का स्मारक स्थापित किया था। संभवत: इन्हीं विमलचन्द की निकट शिष्य परम्परा में मुनीन्द्र सुदत्त वर्धमान अंगदि जैन केन्द्र के अध्यक्ष हुए। नगर के बाहर 9वीं 10वीं शताब्दी की कई सुन्दर जिन-बसदियाँ थी। इसी स्थान पर जैनाचार्य सुगत वर्धमान का विद्यापीठ था जिसमें अनेक गृहस्थ, त्यागी, मुनि शिक्षा प्राप्त करते थे।[16]

पोयसल (होयसल) (1007-1022 ई.) ने गुरु सुगत के उपदेश और पथ-प्रदर्शन में अपनी राज्यशक्ति की नींव डालनी प्रारंभ की। इस काल में चोलो द्वारा गंगवाडि राज्य का अंत कर दिये जाने से कर्नाटक देश की स्थिति संकट में थी। अत: पोयसल अपनी वीरता एवं योग्यता से चालुक्यों का एक महत्वपूर्ण सामन्त हो गया और चोलों तथा उनके कोगाल्ववंशी सामन्तों ने युद्धों द्वारा प्रदेश छीनकर वह अपनी शक्ति बढ़ाने लगा। उसके पुत्र विनयादित्य प्रथम (1022-1047 ई.) और पौत्र नृपकाम होयसल (1047-1060 ई.) ने पोयसल के कार्य को चालू रखा और अपनी शक्ति बढ़ाते रहे गुरु सुगत वर्धमान ही उनके धर्मगुरु एवं राजगुरु थे।

नृपकाम के उत्तराधिकारी विनयादित्य द्वितीय (1060-1101 ई.) के गुरु शांतिदेव थे। 1062 ई. में अंगदि में ही शांतिदेव ने समाधिमरण किया और उस उपलक्ष्य में राजा तथा नागरिकों ने वहाँ स्मारक स्थापित किया था। इस राजगुरु के उपदेश से महाराज विनयादित्य ने अनेक जिनमन्दिर, देवालय, सरोवर, ग्राम और नगर निर्माण किये। 1062 में जैनगुरु अभयचन्द को भूमिदान देकर सम्मान किया।[17] 1069 में मंत्रावर नगर में जिन मन्दिर बनवाया 1094 ई. में इस नरेश ने दार्शनिक वादी जैन विद्वान गोपनन्दि का सम्मान किया और बेलगोल तीर्थ की बसदियों की मरम्मत के लिये कई गाँव दान दिये।

विनयादित्य द्वितीय का उत्तराधिकारी पुत्र बल्लाल प्रथम (1101-1106 ई.) राजा हुआ। इसके राजगुरु चारुकीर्ति पण्डितदेव थे। ये महानवादी श्रुतकीर्तिदेव के शिष्य थे और स्वयं आयुर्वेद, व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त, योग, मंत्र शास्त्र आदि विविध विद्या पारंगत थे। इसका उत्तराधिकारी उसका अनुज बिट्टिदेव (विष्णुवर्धन) (1106-1141 ई.) था। यह इस वंश का यशस्वी नरेश था। चालुक्यों की अधीनता से अपने आपको प्राय: मुक्त कर लिया और चोलो को देश से निकाल भगाया। स्वतंत्र होयसल राज्य का वह वास्तविक संस्थापक था साथ ही अत्यन्त सहिष्णु और समदर्शी था। 1121 में हादिरवागिलु जैन वसदि को दान दिया। 1125 ई. में जैनगुरु श्रीपाल त्रैविद्यवृती का सम्मान किया। श्रवणबेलगोला में उसने एक जिनालय बनवाया, 1121 में वहीं समाधिमरण किया था।

इसके अलावा मंत्री पुणिसमय्य, पत्नि जकणब्बे, दण्डनायक बलदेवण्ण, परस्पराय, हरिदेव, माचिराज, मरियाने, भरतेश्वर, चिन्नराज, इम्मद्रि, बिट्टिमय्य आदि भी जिनभक्त एवं जैनधर्म को समर्पित थे। इन्होंने चार प्रकार के दान दिये एवं कई मन्दिरों का निर्माण कराया। इनके सहयोग से विष्णुवर्धन ने शासन व्यवस्था सुचारू की और जैनधर्म का भी सर्वतोमुखी उत्कर्ष किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पल्लव व कदम्ब वंश –

दूसरी शती के प्रारम्भ में उरैयूर (वर्तमान तिरूचिरापल्ली) का नरेश कीलिकवर्मन चोल था, उसका छोटा पुत्र शांतिवर्मन था। कुमारावस्था में ही बलाकपिच्छ नामक जैनाचार्य से दीक्षा लेकर वह जैन मुनि हो गया और समन्तभद्र के नाम से विख्यात हुआ। समन्तभद्र का, प्रारंभिक मुनि जीवन कांची में बीता, कांची के महारथी स्कंदनाग की कन्या चटुपल्लव से विवाही थी। अत: नागराज की मृत्यु के बाद पल्लव के पुत्र विरूकुरुच ने कांची में पल्लव वंश की स्थापना की।

बनवास देश की करहाटक नगरी में सात वाहनों ने एक अन्य सामन्त ने कदम्ब वंश की नींव डाली थी। प्रथम कदम्ब नरेश का उत्तराधिकारी 150 ई. के लगभग शिवस्कन्द श्री/ आचार्य समन्तभद्र से सम्बन्धित जैन अनुश्रुति का राजा शिवकोटि यही व्यक्ति लगता है। भस्मक रोग हो जाने पर इसी राजा के शिवालय में आचार्य ने रोग की उपशांति की थी और स्वयंभू स्तोत्र की रचना द्वारा अपनी भक्ति का चमत्कार दिखाया था। फलस्वरूप राजा शिवकोटि और उसका भाई शिवायन आचार्य के शिष्य हुए और जैन मुनि हो गये। मुनि शिवकोटि ने ही तत्वार्थसूत्र पर रत्नमाला नामक [illegible]थम टीका लिखी थी।

नरेश मयूरवर्मन के समय से कदम्ब वंश का उत्कर्ष हुआ। इस काल में जैन संघ में स्वामी समन्तभद्र (120-185 ई.) महानवादी, धर्मप्रचारक तथा ग्रंथ प्रणेता थे। पल्लव राजे एवं करहाटक के प्रारंभिक कदम्ब राजे उनके भक्त थे। बौद्धाचार्य नागार्जुन उनके समकालीन एवं प्रतिस्पर्धी थे, अन्य धर्मों के विद्वानों के साथ इन्होंने सैकड़ों सफल शास्त्रार्थ किये थे। इन्हीं के समकालीन मथुरा संघ के प्रसिद्ध आचार्य नागहस्ति और उनके शिष्य यतिवृषभाचार्य थे जिन्होंने कसायपाहुड़ ग्रंथ पर चूर्णिसूत्र लिखे और 176 ई. में तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ की रचना की। इन्हीं के जीवन में 156 ई. में महावीर के शिष्य परम्परा का अंत हुआ जो परम्परागत साक्षात् ज्ञान की मौखिक द्वार से संरक्षक थी। आचार्य समन्तभद्र के ही एक शिष्य आचार्य सिंहनंदि को सन् 188 ई. में दद्दिग और माधव नामक भ्रातृद्वय के हाथों कर्नाटक के प्रसिद्ध गंगवंश और गंगवादि राज्य की स्थापना का श्रेय है। इस प्रकर दूसरी शताब्दी के अंत तक दक्षिण भारत में पाण्ड्य, चोल, चेर नामक प्राचीन छोटे-छोटे तीन तमिल राज्यों के अतिरिक्त पूर्वी तट पर तोण्डेय मण्डल में कांची का पल्लव, बनवास देश में करहाट, वैजयंती का कदम्बराज और कर्नाटक में गंगवादि का गंगराज्य ये तीन नये वंश स्थापित हो गये थे।[18]

इनके अतिरिक्त दक्षिणापथ के विभिन्न भागों में छोटे-छोटे शक्तिशाली किन्तु अल्पस्थायी राज्य स्थापित हो गये थे। जैसे पश्चिमी भाग में शकक्षत्रप शक्तिशाली थे, आन्ध्र देश में इक्ष्वाकुओं का राज्य था। नासिक और खान देश पर लगभग 70 वर्ष आभीरों का राज्य रहा। तदन्तर वहां प्राचीन रट्टिक एवं भोजों के वंशजों-राष्ट्रिकों का आधिपत्य हुआ और 3री से 6ठी शती तक वे राज्य करते रहें 5वीं शती में चालुक्यों के उदय से राष्ट्रीक गौण हुए और फिर 8वीं शती में राष्ट्रकूटों के रूप में उनका उत्थान हुआ।

अब आगे तीसरी से 10वीं शती पर्यन्त दक्षिण भारत का इतिहास कदम्ब, पल्लव, गंग, चालुक्य और राष्ट्रकूट राजवंशों का ही इतिहास रहा।[19]

पल्लव वंश का प्रथम राजा विरूकुरुच था, उसके बाद स्कंदवर्मन हुआ, यह धर्ममहाधिराज भी कहलाता था। पल्लव राजाओं पर स्वामी समन्तभद्र और उनके धर्म का प्रभाव रहा है। प्रारंभिक पल्लव राजाओं के विशेष कर शिवस्कंदवर्मन स्वयं आगमों के टीकाकार जैन गुरु बप्पदेव का शिष्य था। इसके बाद सिंहवर्मन, बुद्धवर्मन, कुमारविष्णु (325-50 ई.) विष्णुगोप सिंहवर्मन द्वितीय राजा हुए, सिंहवर्मन के राज्य में (458 ई.) में पाटलिक ग्राम के जिनालय में जैनाचार्य सर्वनन्दी ने लोकविभाग प्राकृत ग्रंथ पूर्ण किया था। यह जैनी था। इसके उपरान्त दो-तीन राजा और हुए। सन् (550 ई.) के लगभग कुमार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विष्णु से प्रारम्भ होने वाली पल्लव वंश की इस दूसरी शाखा का अन्त हुआ। पल्लव (550-600 ई.) में तीसरी शाखा का प्रारंभ हुआ। इसके आश्रय में महाकवि भारवि ने जीवन के अन्तिम वर्ष बिताये थे।

इसका उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मन (600-630 ई.) हुआ वह जैन धर्म भक्त था। कई जैन मन्दिर और सित्तनवासल की गुफाएं भी उसने बनवाई थी। इन गुफाओं में भित्तिचित्र भी मिलते हैं। चैत्यालयों के निर्माण के कारण इसे चैत्यकन्दर्प उपाधि प्राप्त हुई थी। महेन्द्रवर्मन का उत्तराधिकारी नरसिंहवर्मन प्रथम (630-680 ई.) प्रतापी नरेश था। यह शैवधर्म का समर्थक था किन्तु इसके राज्य में जैन और बौद्ध दोनों ही धर्मो के साधु, देवालय, मठ और अनुयायी पर्याप्त संख्या में थे। तदन्तर नरसिंह वर्मन द्वितीय (690-715 ई.) शैवधर्म का समर्थक हुआ। सन् 705 ई. में नन्दिवर्मन हुआ इसे चालुक्यों, राष्ट्रकूटों गंगों से अनेक युद्ध किये। इसके पुत्र दन्तिवर्मन ने (795-845 ई.) तक राज्य किया, उसका उत्तराधिकारी नन्दिवर्मन तृतीय (844-866 ई.) हुआ। इसका पुत्र नृपतुंगवर्मन नरेश हुआ यह जैनधर्म का समर्थक था। इस वंश का अन्तिम नरेश अपराजित था। 10वीं शताब्दी में चोल सम्राटों के अभ्युत्थान ने पल्लव राज्य का अंत किया। पल्लवों की एक शाखा नोलम्बवाड़ी के नोलम्ब थे, इस वंश में जैनधर्म की प्रवृत्ति निरन्तर बनी रही।

पल्लव वंश के प्राय: सभी नरेश विद्याओं और कलाओं के पोषक थे और विद्वानों का आदर करते थे। प्राकृत, संस्कृत तमिल भाषाओं में श्रेष्ठ धार्मिक एवं लौकिक साहित्य का पल्लव नरेशों के आश्रय में सृजन हुआ। 7वीं शती ई. के पूर्व पल्लव राज्य में जैन और बौद्ध धर्मों की ही प्रधानता थी, तदुपरान्त शैव और वैष्णव धर्मों का प्रसार हुआ। जैन,बौद्ध,शैव, वैष्णव चारों ही धर्म इस राज्य में साथ-साथ फलते फूलते रहे 7वीं 8वीं शताब्दी में शैव और वैष्णवों ने जैनों और बौद्धों पर भीषण अत्याचार करने आरंभ कर दिये किन्तु दक्षिण के विद्वान जैन गुरुओं उनके संघों के संगठन, अनेक पड़ोसी राजाओं तथा सामन्त सरदारों की जैन धर्म में आस्था आदि कारणों से जैन धर्म पल्लव राज्य में अंत तक बना रहा।[20]

पाण्डय राज्य - ईस्वी सन् के बहुत पहले से इस वंश की अवस्थिति थी। ई. सन् के प्रारम्भ के लगभग पाण्डय राज्य उन्नत अवस्था में था। रोम के सम्राटों से इस वंश के राजनैतिक सम्बन्ध थे। ई.पू. 25 में पाण्डय नरेश ने एक जैन मुनि को रोम के सम्राट आगस्ट्स के दरबार में भेजा था। उक्त मुनि ने अपना अंत निकट जानकर रोम में सल्लेखना द्वारा देह त्याग किया, और वहां उनकी समाधि बनी थी। आचार्य कुन्दकुन्द, बलाकपिच्छ, समन्तभद्र आदि ने द्रविड़ देश में जैनधर्म का पोषण किया। पाण्डय राज्य की राजधानी मथुरा में सर्वप्रथम तमिल भाषा के साहित्य का प्रणयन हुआ। तिरुकुरल, तोलकप्पियम, नलादियर आदि का प्रणेता जैनों को माना जाता है। 5वीं शती में आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद ने द्रविड़ देश में विहार किया। 5वीं से 7वीं शती तक पाण्डय देश में जैनधर्म का अत्युत्कर्ष हुआ। वज्रनन्दि और उनके सहयोगी गुणनन्दि, वक्रगीव, पात्रकेसरी, सुमतिदेव, श्रीवर्धदेव आदि जैनाचार्यों ने द्रविड़ या द्रमिल संघ को एक सजीव शक्ति बना दिया। इन विद्वानों ने अनेक ग्रंथों का संस्कृत, प्राकृत, तमिल भाषाओं में प्रणयन किया। 6ठी शती के अंत में कडुंग राजा ने पाण्डय राज्य की शक्ति का पुनरुत्थान किया। वह पूर्वजों की भांति जैन भक्त था। उसके क्रमश: 4 वंशज भी जैनी थे। 10वीं शती के प्रारंभ में चोलो ने पाण्डय राज्य पर विजय करके अपने साम्राज्य में मिला लिया। 12वीं शती में पाण्ड्यों ने फिर से शक्ति पकड़ी और दूसरा पाण्डय साम्राज्य उदय में आया। नरेश मारवर्मन कुलशेखर (1268-1311 ई.) हुआ. उसके वृतान्त से विदित होता है कि उस समय पाण्डय देश में अनेक जैन मठ और जैनी विद्यमान थे। 1310 ई. में अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण ने मदुरा के पाण्डय राज्य का अंत कर दिया।[21]

चोल राज्य - ईसवी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में उरगपुर का चोलराज्य एक उन्नत राज्य था। नागों से उसका सम्बन्ध था और जैन धर्म की उस राज्य में प्रवृति थी। तीसरी शती ई. से पल्लवों के उत्थान के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण चोल राज्य का सूर्य कई शताब्दियों तक अस्त रहा और वह गौण राज्य के रूप में संभवत: चलता रहा। 9वीं शताब्दी ई. में चोल देश के तंचाऊर नगर में विजयालय चोल ने चोल राज्य का पुरुत्थान किया और अपने वंश की स्थापना की। उसके उत्तराधिकारी आदित्य चोल, परान्तक चोल (907-943 ई.) राजा हुए उसके कतिपय उत्तराधिकारी महत्वपूर्ण नहीं थे, किन्तु राजा चोल (985-1016 ई.) इस वंश का महान नरेश था, यह सामान्यत: शैवधर्म का अनुयायी था, किन्तु वह उदार सहिष्णु नरेश था। उसके राज्य में जैनों के ऊपर कोई अत्याचार नहीं हुआ, जैनियों को शैवों के समान ही राज्याश्रय प्राप्त था और उसके राज्य में जैन धर्म उन्नत अवस्था में था।

1074 ई. में कोलुत्तुंग जैन धर्म का अनुयायी सम्राट हुआ। इसके आश्रय में अनेक जैन विद्वानों ने अनेक ग्रंथों की रचना की थी। इस नरेश ने अपने राज्य से समस्त निषिद्ध पदार्थों का आयात बन्द कर दिया था। प्राचीन भारत में चरित्रवान नरेशों में उसकी गणना की जाती है।

चोल साम्राज्य में जैन संस्कृति उन्नत रूप में थी तथा हिन्दू धर्म के साथ निर्विरोध सद्भावपूर्वक लोक कल्याण में रत थी। (पृ. 189)[22]

गंगवंश-दक्षिण के सम्पूर्ण वंशों में यह सर्वाधिक स्थायी रहा और पल्लव, कदम्ब, चालुक्य, राष्ट्रकूट आदि सभी प्रधान राजशक्तियों का प्रबल प्रतिद्वन्दी बना रहा। इस वंश का प्रथम राजा माधव कोंगुणिवर्म प्रथम (189-250 ई.) था। यह पराक्रमी व धर्मात्मा था। इसके एक भव्य जिनालय एवं विद्यापीठ बनवाया जो शिक्षा और संस्कृति का केन्द्र रहा था। उसके उपरान्त किरियमाधव द्वितीय हुआ। वह नीतिशास्त्र में निष्णात था। वैशेषिक सूत्रों पर उसने टीका लिखी थी।

3री-4थी शताब्दी में गंग नरेशों के शासनकाल में कई प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए। कसायपाहुड के आचार्य यतिवृषभ कृत चूर्णी सूत्रों पर वृत्ति लिखी, शामकुण्ड और बप्पदेव ने भी आगमों पर टीकाएं लिखी। कुचिभट्टारक और नन्दमुनि ने पुराण ग्रन्थ लिखे। शिवधर्म ने कम्मपयडि और सत्तक नामक कर्म ग्रंथों की रचना की। यशोभद्र, प्रभाचन्द्र श्रीदत्त आदि विद्वान भी इसी काल में हुए।

अविनीत कोंगुणि पराक्रमी और धर्मात्मा नरेश था उसके गुरु जैनाचार्य विजयकीर्ति थे। उसने अनेक अर्हतायतन को दान दिया था, देवनन्दी पूज्यपाद (464-524 ई.) में उसने अपने पुत्र युवराज दुर्विनीत का शिक्षक नियुक्त किया था। दुर्विनीत कोंगुणी गंगवंश का महान नरेश था। महाकवि भारवि भी कुछ समय तक उसके दरबार में रहे और उसने उनके करातार्जुनीय के 15वें सर्ग पर टीका भी लिखी। कन्नड़ भाषा के प्रारंभिक लेखकों और कवियों में भी दुर्विनीत की गणना है।[23] (पृ. 197)

दुर्विनीत के प्रधान धर्म एवं विद्यागुरु पूज्यपाद देवनंदि जैनधर्म के महान आचार्यों में से है। जैनेन्द्रव्याकरण, शब्दावतार, सर्वार्थसिद्धि, समाधितंत्र आदि अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों की उन्होंने रचना की। सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, काव्य, आयुर्वेद, छंदशास्त्र आदि विभिन्न विषयों में वे निष्णात थे। तदुपरांत मुष्कर राजा हुआ इसने मुष्कर वसदि नामक जिनालय का निर्माण कराया था। भूविक्रम, विक्रमादित्य गोविन्द शचीन्द्र पृथ्वीकोंगुणि राजा भी जिनभक्त था। पृथ्वीकोंगुणि ने जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था। यह युग शांति पूर्ण रहा, अनेक विद्वान जैनाचार्यों ने 6ठी 7वीं शताब्दी में जैनधर्म की प्रभावना की और महत्वपूर्ण साहित्य का सृजन किया। गंग नरेशों से सम्मान-प्रश्रय पाने वाले इस काल के जैन गुरु व विद्वान निम्नलिखित हैं -

पूज्यपाद, गुणनन्दि, वक्रग्रीव पात्रकेसरी, वज्रनन्दि, सुमतिदेव, श्रीवर्धदेव, गंगाचार्य, ऋषिपुत्र, वृषभनन्दि, चन्द्रसेनाचार्य, जोइन्दु, महासेन, जटासिंहनन्दि, रविषेण, पद्मनन्दि, अपराजितसूरि, कुमारनन्दि, धनंजय कवि इत्यादि।

सन् 777 ई. में श्रीपुरुष ने राज्य का परित्याग करके पुत्र शिवमार द्वितीय को सिंहासन देकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनगुरुओं के निकट उदासीन श्रावक के रूप में धर्मसाधन किया। शिवमार जैनधर्म में 7 का महान संरक्षक था। श्रवणबेलगोल में एक जिनालय भी इसने बनवाया था जिसे शिवमारन वसदि कहते हैं। युवराज भारसिंह और उसके चाचा दुग्गमार ने अंजनेय नामक मन्दिर बनवाया था। इस वंश में अनेक राजा हुए जिन्होंने जैनधर्म संरक्षण में अपना योगदान दिया।

राजदमल्ल नरेश के मंत्री चामुण्डराय के कारण गंगवंश इतिहास में अमर हो गया। यह मंत्री राजनीतिज्ञ वीर योद्धा, स्वामी भक्त, कन्नड़, संस्कृत, प्राकृत भाषाओं का विद्वान, कवि मंत्री राजनीतिज्ञ वीर योद्धा, स्वामी भक्त, कन्नड़, संस्कृत, प्राकृत भाषाओं का विद्वान, कवि और लेखक था। दक्षिण भारत में जैनधर्म की स्थित इसने सुदृढ़ की। अपनी माता की इच्छापूर्ति करने के लिये उसने 978ई. में श्रवणबेलगोल मे गोम्मटेश्वर बाहुबली की प्रतिमा का निर्माण कराया था। इसके अलावा भी कल्याणी के कलचुरि,चोरवंश उपवंश सौन्दत्ति के रट्ट कोंकण के शिलाहार, चंगाल्व वंश, अलुव वंश, गंगधारा का चालुक्य वंश,वंग, वंष,पोम्बच्चपुर के तांतर, वारंगल के कांतीय, देवगिरि के यादव इत्यादि वंश दक्षिण में हुए है, जिन्होंने जैनधर्म संरक्षण में अपना योगदान दिया है। लेकिन विस्तार भय से हम उन सबका विस्तृत विवेचन यहाँ नहीं कर रहे हैं।[24]

सन्दर्भ :-

1. गोम्मटेश्वर बाहुबलि एवं श्रवणबेलगोल, इतिहास के परिप्रेक्ष्य में, सतीश कुमार जैन, प्रकाशक-लाड़ादेवी प्रकाशन ग्रंथमाला, पृ. 49
2. वही, पृष्ठ 58, पृष्ठ 61
3. वही, पृष्ठ 67
4. संक्षिप्त जैन इतिहास भाग-3,खण्ड-3, दक्षिण भारत का मध्यकालीन इतिहास बाबू कामताप्रसाद जैन, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, पृ. 35
5. वही पृष्ठ 34
6. गोम्मटेश्वर बाहुबलि एवं श्रवणबेलगोल, पृष्ठ 82-83
7. संक्षिप्त जैन इतिहास पृष्ठ 79
8. गोम्मटेश्वर बाहुबलि एवं श्रवणबेलगोल, पृष्ठ 86
9. प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिला-डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली 1975 पृष्ठ 87
10. गोम्मटेश्वर बाहुबलि एवं श्रवणबेलगोल, पृष्ठ 87
11. वही, पृष्ठ 89
12. भारतीय इतिहास एक दृष्टि, डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ 1999 पृष्ठ 216
13. गोम्मटेश्वर बाहुबलि एवं श्रवणबेलगोल, पृष्ठ 89-90
14. भारतीय इतिहास एक दृष्टि, पृष्ठ 216-218
15. गोम्मटेश्वर बाहुबलि एवं श्रवणबेलगोल, पृष्ठ 92
16. भारतीय इतिहास एक दृष्टि, पृष्ठ 252
17. वही, पृष्ठ 253
18. वही, पृष्ठ 257
19. वही, पृष्ठ 181-183
20. वही, पृष्ठ 187
21. वही, पृष्ठ 186-188
22. वही, पृष्ठ 188-189
23. वही, पृष्ठ 197
24. वही, पृष्ठ 205 - 206

प्राप्त : 19.01.06

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ARHAT VACANA
Kundakunda Jñānapītha, Indore
Vol. - 19, No. - 3, July - September 07, 59 - 62

Indore: A Glimpse of Malwa*

■ Michael C. Skinner **

From the small nibble of Indore available to me in my week here I would have to label this city as sturdy. Although this might not be the sultriest of labels, in the context of urban India, this translates to a city with a strong foundation and room to expand. Already here are the malls and modern amenities found in other urban centres, though community tea stalls and a bevy of local enteries still exist. This combination of old and new defines Indore and makes it a wonderful city for wandering. The people of this city reflect this sturdy spirit and in every interaction were extremely kind and generous. From my limited observation indore has a strong base, both urban and social, from which to develop into a centre of education, commerce, and culture.

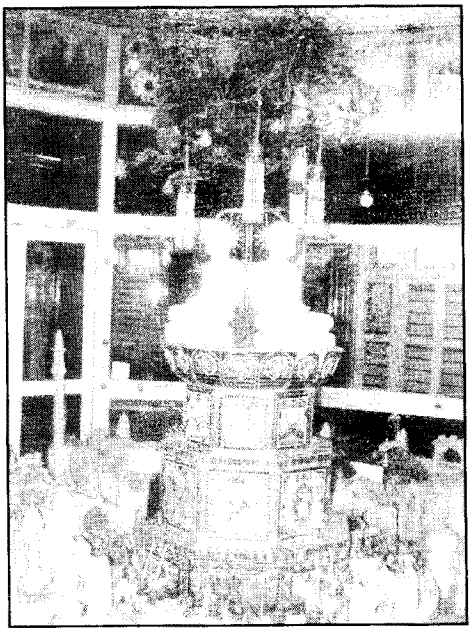

A view of Samavosharan Jian Temple

In traveling around the city of Indore there are many sites that connect the modern city to its historical past. For example, **Rajwada** (Rājavāda) and **lalbag** (lālabāga) still exist from the times of the Malva principality and almost every road is lined with large familial residences that atlest to the booming commercial enterprise of this city. Also found on the streets are small temples constructed for the passing Pūjā as well as larger temples of note. For example, a gigantic **Gaṇapati** measuring fifteen meters high and ten meters wide is found in **Badāgaṇpati.** Many, other beautiful temples and historical temples sites are also found in indore such as the **kānca mandira** and the **samavasharan Jaina temple,** but I will have to wait untill I return to visit them.

Besides being home to kings and temples Indore is also a centre of Jainism. Residing in indore is a vibrant Jaina community. There are many old Jaina **mandirs** in Indore as well as modern temples recently constructed. At Gommata Giri one can find a magnificent rendering of the twenty four tīrhankars in siting

Gommatagiri - Indore

* Insturctor of History University of Hawaii - Hilo, U.S.A.

** Written after 10 days study visit of Kundkunda Jnanapitha, Indore

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

position and

all of polished marble. Associated with this **mandir** there are many modern guest houses allowing for lay visitors and travelling **munis** to rest and enjoy a contemplative stay. Gommat Giri could also facilitate larger research groups interested in studying jainism such as the international summer school for Jaina studies directed by Shugan C. Jain based in Dehli together with his team. Both in and around, Indore historical Jaina sites include **siddhavara Kūta, pāvāgiri, Maksī. Baedia, Badāvanī**, etc.

Besides Indore as a centre of Jainism, another historically significant city located about 56 kilometers north is ujjain. Jainism enjoys a long history in this area as Ujjain was the ancient capital of the Malva religion and also the location of the purported meeting spot after the Jaina group returned from the northern famine. **Chandraguta maurya,** the founder of the maurya dynasty (350-200BCE) is said to have taken part in the migration to the south and later Ujjain became a Maurya capital. Ujjain is also noted as an ancient centre of trade and considered one of the holiest cities in india. This city has a plethora of temples -ancient, medieval , and modern -that are marvelous in the construction and religiously significant. **Mahakaleshvar** is a temple built in the 10th Century ACE and is surrounded by a grouping of various Hindu shrines. For Jainas this city is important for the above mentioned historical reasons but in Ujjain is also found the **Jaisinghpura.** This Mughal period mandir has undergone recent renovations. It became a store house for Jaina relics from around the region. Today in the **mandir** itself you can see a variety of relics and idols, and one on display is inscribed with the date 1403. The museum behind the mandir, though in need improvement, houses a valuable collection of Jaina icons, statues, and artifacts. For any Jaina scholar inerested in medieval and mughal history of Madhya Pradesh the **JaisinghPura Museum** would be an excellent collection for resesarch. In cojunction to this the Vikram University at Ujjain has many knowledgeable professors in their Ancient Indian History Department for which to consult about this period.

As for my time Indore, I have been residing at the Kundakunda Janapitha and utilizing their scholarly facilities. In an effort to spread Jaina knowledge and ideas the

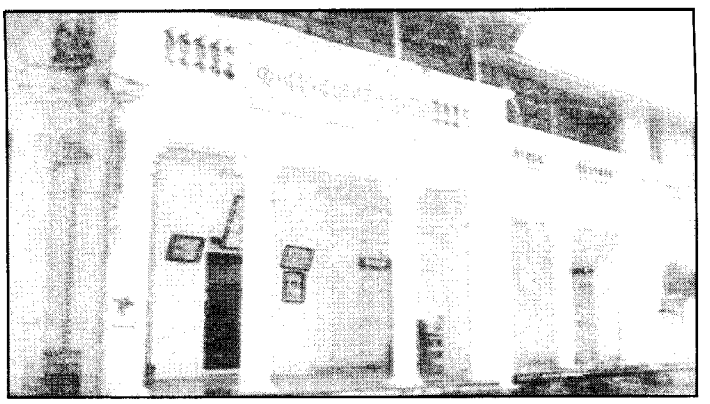

Front view of Udāsina Ashram

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Kundakunda Jnanpitha was founded in 1987 under the **Digambara Jaina Udasina Ashram Trust** inspired by **Shri DeoKumarSingh Kasliwal.** Today, under the guidance of Dr.Anupam Jain and through the support of the local Jaina community the Kundakunda Jñānapīṭha has established a well stocked library (over 24,000 texts) of Jaina related resources and also a large collection antiquated texts. Currently in construction is a museum (Saṁskṛti bodha-Kalā Vīthikā) for Jaina manuscripts and relicas of Jaina sculptures. A section about missing links of Jaina History will be devoted in it. As a visiting scholar to Indore I have been will received by the Jaina community, especially the Kasliwal (Dr. Ajit Kumar Kasliwal) and Bobra (Surajmal) family, and have amle opportunity to explore the available resources. With the addition of a few updated sources to complement their comprehensive collection of **sūtras, agamas**, and Hindi texts the Kundakunda Jnanpitha will definitely contribute in incresing the knowledge of Jaina studies.

For the above reasons the Kundakunda Jñānapitha will only expand in the future

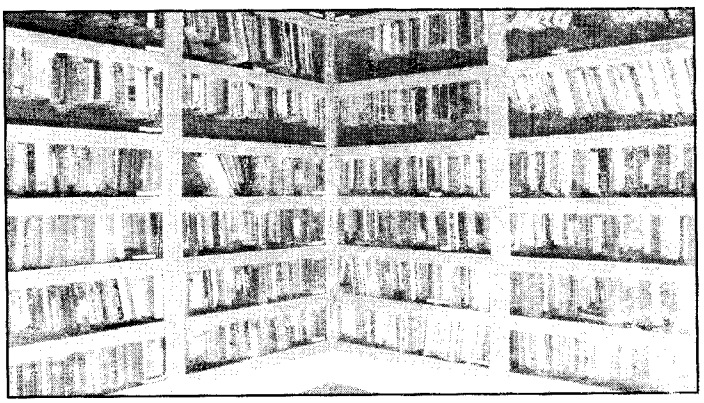

Front view of Library

and hopefully attract more scholars to Indore in an effort to study Jainism. In connection with a place of learning this organization also publishes a quarterly research journal, the Arhat Vacana, of which 74 publications have been produced under the editorship of Dr. Anupam jain.

Three issues of Arhat Vacana

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

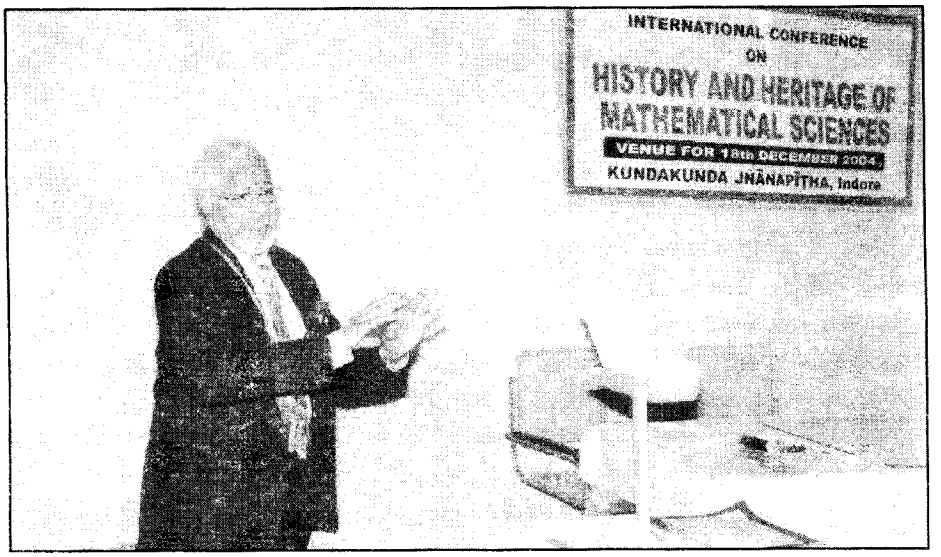

Prof. Harishankar - U.S.A. delevering Lecture at Kundakunda Jñānapīṭha on 18.12.04

In 2004 the Kundakunda Jnanapitha, in collaboration with orther organization, organized an International conference on History and Heritage of Mathematical Sciences that attracted 25 foreign delegates and 116 Indian scholars. While staying at this location I have had the opportunity to interact with some professors (Prof.Abbasi, Prof.P.N.Mishra, Prof. G. Kawadia, and Prof. S.K. Bandi) and discuss both Jainism as well as the state of education in America and India . It appears that in both countries the emphasis of business and commerce generally outweights social sciences. This is why centres such as Kundakunda Jnanapitha are so important, as it allows students the opportunity to study a subject often overlooked in modern eduation systems as well as offers those intersted for comming to the KundaKunda Jñānapīṭha was for the study of ancient Jaina history. Also, **I am an instructor of history at University of HawaiHilo teaching world history so I would like to incorporate a section on Jainism into my course.** During my stay I have been researching the history of Jainism in Mathura from the decling of the Maurya Empire and the rise of Kuṣāṇa dynasty. In Mathura there are important archaeological finds and many inscriptions which have helped historians to understand the role of Jainism in ancient India. Besides having and ancient Jaina stūpa dated prior to the christrian Era. Mathura was also a hub of artistry and sculpture that produced some of the first statues of tīrthankars in India. This demonstrates the ascendancy of Jainism in ancient India and places Mathura as a significant centre of ancient Jaina culture. I have very much benifited from my time at this centre and their collection of books on history and Jaina art and architecture have been very helpful.

Throughout my week in indore I have a wonderful time both studying Jainism as well as getting to know people associated with the Kundakunda Jñānapīṭha. I offer my sincere thanks to **Dr. Anupam Jain** for hosting me and also all the staff members of this

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

institution, especially the librarian Mrs. Surekha Mishra Who can find any book upon request. As for Idore itself, I know that when I return many things will change: new building will be constructed, larger roads will be built, and new residintial colonies will be established. However, the people of this city will still retains their caring and relaxed attitude and for this reason this city will remain a wonderful place in india.

Received : 16.07.07

Michael C. Skimmer with the directors and others

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

General Instructions and Information for Contributors

1. Arhat Vacana publishes original papers, reviews of books & essays, summaries of Dissertations and Ph.D. Thesis, reports of Meetings/Symposiums/Seminars/ Conferences etc.
2. Papers are published on the understanding that they have been neither published earlier nor have been offered to any journal for publication.
3. The manuscript (in duplicate) should be sent to the following address-
   Dr. Anupam Jain, Editor - Arhat Vacana
   'Gyan Chhaya', D-14, Sudamanagar, INDORE - 452 009
4. The manuscript must be typed on one side of the durable white paper, in double spacing and with wide margin. the title page should contain the title of the paper, name and full address of the author. It is prefered to submit the MSS electronically through C.D. or email in MS Word in addition to the above.
5. The author must provide a short abstract in duplicate, not exceeding 250 words, summarising and highlighting the principal findings covered in the paper.
6. Foot-notes should be indicated by superior number running sequentially through the text. All references should be given at the end of the text. The following guidelines should be strictly followed.
   (i) References to books should include author's full name, complete and unabbreviated title of the books (underlined to indicate italics), volume, edition (if necessary), publisher's name, place of publication, year of publication and page number cited. For example - Jain, Laxmi Chandra, Exact Sciences from Jaina Sources, Basic Mathematics, Vol.-1, Rajasthan Prakrit Bharati Sansthan, Jaipur, 1982, pp. XVI
   (ii) References to articles in periodicals should mention author's name, title of the article, title of the periodical, underlined volume, issue number (if required), page number and year. For example - Gupta, R.C., Mahaviracarya on the Perimeter and Area of Elipse, The Mathematics Education, 8 (B), PP. 17-20, 1974.
   (iii) In case of similar citations, full reference should be given in the first citation. In the succeeding citation abbreviated version of the title and author's name may be used. For example - Jain, Exact Sciences, PP. 45 etc.
7. Line sketches should be made with black ink on white board of tracing paper. Photographic prints should be glossy with strong contrast.
8. Acknowledgements, if there be, are to be placed at the end of the paper, just before reference.
9. Only ten copies of the reprints will be given free of charge to those authors, who subscribe. Additional copies, on payment, may be ordered as soon as it is accepted for publication.
10. Devanagari words, if written in Roman Script, should be underlined and transliteration system should be adopted.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Vol. - 19, No. - 3, July - Sep. 07, 65-72

ARHAT VACANA
Kundakunda Jñānapīṭha, Indore

Research Methodology and Nature of Proof: A Visit to Jainism and Patanjali

■ P.N. Mishra*

■ Pooja Jain**

Abstract

Exploring mind, matter and nature is a perpetual human question. Philosphers, Scientists and Social scientists do this exploration in their own way. This paper basically deasl with database research in social sciences. In this paper, how errors creep in, through the media of data, statistical tools and researchers mindset has been discussed. Two important Jaina concepts. Anekāntavāda and syādvāda has been examined for reaching conclusions.

Patanjali's assertaioin on progressive importance of proof such as direct cognition, inference and testimony has been analysed in the context of modern scientific development. It has been asserted that a researcher in social sciences should also take imputs from ancient Indian wisdom such as Jainism, Buddhism Upaniṣadas and yoga. sūtra to comprehend the truth better.

Introduction

Exploring the mysteries of nature is one of the human tendencies. People have always been curious about nature. They have tried to understand matter, mind and behavior in their own way. Philosophers and scientists developed methods and methodologies to explore and understand the nature. Scientists approach the problems from one direction and philosophers from the other. Sometimes they merge and sometimes they remain at divergence. However, the journey of exploration has been progressing all along. Search and research create many milestones in this journey.

When scientists approach a problem, they rely on experiments and observations. Observations are always performed with the help of senses. Senses have their own limitations. Hence, whether a scientist will reach the absolute truth remains a matter of debate. Contrary to this philosophers approach a problem applying, thinking, reasoning and analysis. For philosophers, the processes are basically cognitive in nature. They might depend on certain experiments and observations also; but by and large, philosophers' investigations are largely mental. Philosophers' approach could be constrained on account of their own pre-disposition and mental makeup. Therefore, even a philosopher will arrive at the absolute truth is also debatable. Nevertheless, philosophers

* Senior Professor and Director of Institute of Management Studies, DAVV, Indore 452 017 INDIA
** Lecturer, International Institute of Professional Studies, DAVV, Indore 452 017 INDIA

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

and scientists always keep on moving forward in the endless journey of exploring nature, matter and mind. Systematic approach for this kind of exploration is always a necessity.

The systematic search for facts and information on an issue or a topic has been given the name of research. As topics and issues can be different, therefore there cannot be universality on how the research will be conducted. Research in literature and languages are different from research in natural and biological sciences or history and social sciences. In this article certain philosophical issues pertaining to the database research in social sciences alone has be discussed. In this context relevance of Anekāntavāda, Syādvāda and Patanjali view of nature of proof has been explained. Problems and issues of research in other subject or areas are not the subject matter of this article. In social sciences, research is done to achieve one or more of the following purposes:

(i) to establish relationships among variables.
(ii) to validate or modify any given relationship.
(iii) to pass on statistical judgement on a statements pertaining to any universe or population.
(iv) to find out causes responsible for a phenomena and,
(v) to make forecast.

To serve the above purposes, data are needed. Data are analysed with the help of statistical and quantitative techniques; the findings thus obtained after statistical and quantitative analysis are examined and interpret by the researcher to draw certain conclusions and to make recommendations. Thus, the conclusions of any research are largely the collective outcome of data, statistical tools and researchers' mindset.

Sources of Error

In all the above three-data, statistical tools and quantitative techniques and researchers' mindset, certain error is inbuilt. Here we distinguish between " Error" and "Mistake." Error is that deviation from the exact or correct finding which is due to the system. Researchers can only be aware of this but cannot remove it, whereas mistake is due to the researcher. It can be removed or eliminated by taking additional care.

Let us try to understand how errors creep in research findings and conclusions.

Data

Experiments and observations are ultimate sources of data. In experiments, ultimately certain kind of observations are made, hence observations are of paramount importance in the context of data creation and collection. Our observations are constrained by the limitation of our senses. We cannot see, touch, feel or smell all existences even when they are there. If we are telescopic and microscopic both, the world eye view will be all together different. Similarly if we can hear all the frequencies and wavelengths of sounds present in the surrounding, our understanding of the existence will be different. Thus, whatever we observe, listen or smell are not hundred percent exact. We try to

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

increase the power of our sense organs by various physical devices, but they cannot be increased beyond a certain limit. Instruments of measurement are also not hundred percent sensitive. "Least count of" an Instrument decides the extent to which it can measure a thing. Limitations of senses and instruments can never allow a researcher to get exact data. Power of senses and instruments can be enhanced but it cannot be enhanced infinitely. "Presence of the observer influences the phenomena" is a statement, which has been made in the context of physical science, but it is truer in the context of social sciences. Whenever you observe any social phenomena, in many of the situations, phenomena are influenced or changed by the presence of observer. Whenever a person is interviewed to explore some facts or information, the moment he/she is interviewed, his/her behavior is changed. Thus changed or modified behavior, not the real one are recorded for the purpose of research. The researchers have tried to get over this problem by using disguised techniques, yet total success is not guaranteed.

On account of modification of phenomena due to the presence of observer, limitations of senses and instrument of measurement, data are bound to be erroneous.

Statistical Tools

Statistical methods are backbone of database research in social sciences. But is this backbone sufficiently strong? Statistics is not an exact science like mathematics; it is a science of averages. A statistical measure for a sample or population may not be correct for any single member of the sample or population; yet it is regarded as valid for whole of sample or population. The average income of a group of people may not be the income of even one member of group.

In calculations also lot of assumption are made, but in actual situation, those assumptions are either not present or not verified to be correct. A simple example will carry this message home:

We wish to calculate mean of 3, 4,5,6,7 and 8. The mean is (3+4+5+6+7+8) / 6 = 5.5

Let us put the same data in the form of frequency distribution;

S.No	Class	Frequency
1	0 - 5	2
2	5 - 10	4

Mid values for class 1 and 2 are respectively 2.5 and 7.5. By simple statistical formula mean will be

$$\frac{\Sigma \text{ Mid value x frequency}}{\text{Sum of the Frequenies}}$$

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

$$= \frac{2.5x2+7.5x4}{6} = \frac{5.0+30.0}{6} = \frac{35}{6} = 5.83$$

This is not the same as the first mean, which is 5.5 Where is the error? As a matter of fact, the error lies in the non-fulfillment of a particular assumption for grouped frequency distribution. All items within a group should be uniformly and normally distributed. This particular assumption was not verified while using the grouped frequency distribution and hence the error. Likewise, there are certain assumptions with all statistical formulae. Sometimes assumptions are not valid for the situation and sometimes they are not verified to be present, yet the formula is used leading to an error.

A statement about the population is generally verified through the study of sample. In hypothesis testing, we pass on judgement about population parameters through the corresponding measures calculated for a sample drawn from the population. However carefully you draw a sample, there is no guarantee that it will be an appropriate representative of population; for example, from a population of 100 people consisting of 50 male and 50 female, you draw a sample of 10 by using random methods. All the 10 may turn out to be either male or female. The sample was without any bias, yet it did not turn out to be representative sample. If the sample is changed, findings may change. Researchers try to solve this problem by resolving to the techniques of stratified random sampling. Even a stratified random sampling is not necessarily 100 % representative. By stratified random sample, no doubt, representativeness of the sample is ensured up to certain extent. From a population, if you draw two non-biased samples of the same size using the same techniques, they will not necessarily lead to the same result. If the sample size is changed then the findings are also likely to change. Hence, for the same population, with different samples of the same size and different samples of different sizes varied results are likely to be there. Statistical techniques, thus, may induce certain amount of error. So, should we give up statistical techniques? No, use them with caution and never consider your findings as ultimate truth.

Researchers' Mindset

If the same sample, data and statistical calculations are given to many researchers, all of them will not reach to the same conclusions and inferences. The researchers have different perception, attitude and mindset. They cannot completely get over this. Their psychology, up to some extent will definitely be reflected in the conclusions and inferences that they draw and the recommendation that they make.

This is yet another source of error in data base social science researches. So, should we say good-bye to research and research methodology, which is supposed to be systematic way of conducting the research? No, it gives bad answers to questions which otherwise would have worst answers.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Research methodology is regarded as revolution in social science in 20th century. it is rightly so, because it empowers social scientist to acquire new knowledge and facts with reasonable confidence.

Words of Caution:

Research findings depend upon multiple of factors; which introduce some element of error in results. Research findings can never be deemed to be absolute truth. They are only satisfactory understanding of phenomena. Thus, a researcher should never be rigid. He/She should be of questioning, flexible and open mind. He/She can only say that in the given circumstances, with given data and tools of study, the results have been obtained and they are subject to change and modification in future. He should be prepared to accept or not to accept any thing. Rigidity is an enemy of research attitude.

Anekāntavāda (अनेकांतवाद) and Syādvāda (स्याद्वाद)

Syādavāda and Anekāntavāda are two important pillars of Jaina philosophy. Syādvāda is a way to express the things relatively. Any thing or statement may be correct from one stand point and may be wrong from another stand point. Hence, from the limited power of our senses (इन्द्रिय) we can't say a thing correct from all points of view. Anekāntavāda believes that every entity, however insignificant or small it might be, has infinite dimensions suggesting thereby that full exploration of any entity using material means is difficult if not impossible. Hence there is no conformity and exploration continues. Anekāntavāda and Syādvāda are true research attitudes.

Statistical Packages: Curse or Boon?

Some times researchers decide in advance that they would use a particular research technique. They assert that they would use regression, correlation, hypotheses testing etc. with the belief that the research technique would increase quality of research. Sometimes, the problem doesn't require any technique; simple logic or averages produce high quality results. So, one should not use a technique to impress fellow researchers only.

Let the situation demand the use of a particular technique rather than unnecessarily imposing any technique on situation. A good doctor prescribes medicine only when it is needed, he does not prescribe the medicine just because he knows and has it.
This applies to a good researcher also.

User-friendly statistical packages have made the job of data analysis easy and fast. Researchers have developed the tendency of using them even when they are not demanded or required by the situation .A word of caution is necessary here also. Donot tailor-make your problem to suit a particular research technique, let the technique be developed to suit the problem, similarly, donot apply a statistical package only because it is available- let it be required by the data and problem being researched. If the above care is not taken immediately, database research in social sciences will turnout to be a formality

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

and fraud and the quality of research in social sciences will reach a deplorable level. Through this kind of research neither academics nor society will be benefited. Research should be conducted to supplement wisdom, not to replace it. Today, wisdom is being lost in the jungle of data.

Give Meaning to Research:

In order to give a meaning to researches in social sciences at least following questions must be asked to himself by the researcher at various stages of research.

(i) Is there really a research problem?

(ii) Has the problem been formulated well?

(iii) Are the population, sample and data collection methods seriously thought over?

(iv) What statistical tool, the data requires for analysis?

(v) Does data fulfill necessary conditions for the application of identified statistical technique?

(vi) Do the result automatically flow as an outcome of analysis?

(vii) Is neutrality maintained while arriving at the conclusion?

(viii) Is it not the repetition of something already done?

Here is again a caution, at grown up stage every body is unique, every body is complex and every body is capable of concealing and manipulating his behavior. Had people been complex only, there would not have been much problem in studying them. Rockets and computers are very complex machines, but if you study one of them, others of the similar kind need not be studied. Serious problem is posed by his being unique and capable of concealing and manipulating his responses. A researcher must be cautious and careful about it while drawing the conclusions.

The Universe and the Sample:

Ancient Indian philosopher has said Yad Brahamande Tat Pindey (;द ब्रहमाण्डे तद पिण्डे). Whatever is there in the universe is also there in a minute particle. Every particle is a miniature universe, so to study the universe; study of one particle could suffice. This might seem to be an extreme view, but nonetheless, has deep message for the researchers. Even the study of small sample gives exact idea of the universe but the sample is required to be true representative of the universe, irrespective of the size. Studying a large sized sample does not guarantee the accuracy of results. It should be true representation rather than large representation. Even a small sample gives true idea of universe if carefully chosen.

Jean Piaget who is regarded as father of child psychology studied only his son. The span of study extended up to 16 years. In the language of research methodology you may call it case study or a study where universe was very big but the sample size was one only, which is the smallest possible sample size. The conclusions drawn can be universally

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

acceptable. The conclusions that Jean Piaget drew about child's development, are universally accepted. They explain the development and behavior of every child in the world; over the years they have found to be almost correct. Piaget studied one child but the conclusions are valid for every child. How could it happen? Individuals exist at three levels – biological, social and spiritual. The variability in the behavior of individuals in more at social level. At biological and spiritual level every body is almost one and the same. Piaget concentrated, to being with, at the child as biological and spiritual being. He tried to understand him as a social being also only when the child reached the age of 7. As people are almost same at biological and spiritual level, objective, deep and natural study of even one individual may unveil facts about others behavior too.

Nature of Proof – In the view of Patanjali :

Patanjali is an ancient Yoga Master. He has composed Yoga Sūtra. His Yoga Sūtras are being explored by modern psychologists. The Yoga Sutra of Patanjali is divided into four Pāda (Sections). They are Samādhi Pāda, Sadhana Pāda, Kaivalya Pāda and Vibhuti Paad. Patanjali has followed the Sutra style of writing that is utmost condensation. Patanjali has not given very high place to direct evidence in his Yoga Sutra whereas sense evidence or direct knowledge in modern science has been given a very respectable place. But sense evidence accordingly to ancient Indian philosophers cannot totally be relied upon. Whatever the senses, see, feel or smell may be illusion or untrue. Scientists have also started endorsing the view.

Patanjali, a great thinker and exponent of yoga philosophy have said the following about the nature and order of proof:

प्रत्याक्षानुमानागमाः प्रमाणानिं।[1]

Pratyakṣānumānāgamāh pramāṇani

This Aphorism (सूत्र) says direct cognition; inference and testimony are progressively the better proofs. Here testimony means statement given by a seer. As a proof, Patanjali has given highest place to the testimony and the lowest to direct cognition or sense evidence. As we have discussed already that our senses have limitation have they are incapable of comprehending the reality in totality. Knowledge produced by the sense are, thus only working knowledge and not at all the absolute knowledge. Inference as a proof has been given a better place as compared against direct sense evidence. To draw an inference from observation, one applies one's wisdom and intelligence. Therefore, as a proof it is superior to direct sense evidence- but testimony, according to Patanjali, is the highest proof. At the surface of this, it seems strange, but a deeper analysis would convince us that Patanjali has a point. A seer (ऋषि) comprehends a phenomena going beyond senses, not through them. He maintains maximum objectivity and neutrality while making any statement.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Upaniṣada and other such literature are full of statement about nature, mind and behavior. The seers have not followed any formal methodology rather they went into deep contemplation and observed nature and mind going beyond senses. Such statements are being endured by modern physics and psychology.

Hence intuitive wisdom and revelations also should be given a fair change and trial. Tomorrow some more tools may develop; and powers of our instruments of measurement and observations may increase further which may reveal some more intuitive aspects of nature and mind. Therefore do not be rigid, be prepared to welcome new knowledge and facts as we advance in our journey of acquiring knowledge.

Conclusion

Research methodology is regarded as a revolution in social sciences in the last century because it empowers us with the techniques and skills of acquiring new knowledge. But it has its own limitations. Due to some structural defects it does not give absolute knowledge- it gives only working knowledge. Knowledge produced by research methodology always goes through the process of evolution and modification. It gives bad answers to questions which otherwise would have worst answers. Research methodology is full of many gaps and slips.

A genuine researcher must not be rigid; he/she should be ego less and polite. He/ She should question every thing including his only findings. He should have an open mind and should be willing to accept any thing.

Today, social science research, by and large is not in satisfactory stage. Lack of deep training in research methodology and too much emphasis on database quantitative research could be a few factors responsible for this.

Research in social science should be organized with utmost care and concern, incorporating modern techniques and ancient wisdom both, otherwise doomsday in social science research will not be far ahead. Intuition and ancient wisdom should not be ignored. Deeper wisdom available in ancient Indian thoughts such as Jainism, Buddhism, Upaniṣadas and Yoga sūtra should also be in research dealing with mind, matter and nature.

Note : The Authors are thankful to Dr. Anupam Jain, for his valuable suggestions on the concept of Anekāntavāda and Syādvāda.

Reference :

1. Yoga Sūtra, Samādhi Pāda, Aphorism 7.

Received after revision : 28.08.07

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Vol. - 19, No. - 3, July - September 07, 73 - 75

ARHAT VACANA
Kundakunda Jñānapīṭha, Indore

Scientific Aspects of Jainism

■ Y. K. Jain *

Abstract

Concept of six Dravyas (entities) in Jainism is unique. The details of Jīva, Ajīva, Dharma, Adharma, Kāla & Ākāśa are very scientific but the terminology used in its explantion is not scientific Present article gives a brief introduction about all these six entities.

In Jainism the reality is described by using the tool of Anekāntavāda or pluralism which says that a thing is multifaceted and depending upon perspective it shall appear to be different from different directions. Nonetheless reality is the integral view of all such uni directional views. For Example a cuboid appears to be square when seen from the sides. The soul or the Jīva is inherently pure, omniscient, omnipotent and blissful at all times. However in worldly state he undergoes transmigration traversing from hell to heaven and from human form to animal forms. How is it possible that the soul which is pure and omniscient, has to undergo such transformations? This is explained by use of Anekānta. While from real view or Niścaya view the soul is totally pure, from Vyavahāra view or practical view he is shackled by the bonds of Karmas from beginingless time, hence his knowledge has been obscured, which leads him to believe his body as the soul and all his efforts are directed towards benefiting the body. The real view is also true and the practical view is also true since it can be seen so. The integration of these views only is the reality and when one pure state of Mokṣha.

In the same way the spirituality and science are two aspects of the same coin. While spiritually deals with the soul which can only be experienced and not established by any conventional proof, the science deals with practical aspects of the matter which base all hypothesis based upon proofs. Both aspects are real and not imaginary. Integration of these two views provides the knowledges of the reality. One cannot ignore or suppress the practical view since it provides a knowledge of the way the things are, without knowing them one cannot identify soul from non soul.

Hence Jainism did not limit the description of the Dravyas (entities) Dravyas of the universe to just soul (jīva) and non soul (ajīva). The scientific aspect was also equally important to be characteristics as defferent from non soul. Therefore although they sides of the coin, the fact is that the two sides only make the coin.

The written scripture of Jainism is about 2000 years old which has its roots in the divine sermon of Bhagavāna Mahāvīra which was given about 2500 years back. It must be borne in mind while studying them that most of the terminology was not scientific since their vocabulary was different and we have to interpret them in the corret perspctive.

* 51, IEHCS Layout, 5th Block, 7th Main, Vidyarangapura, Banglore - 560 097

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

It is quite astounding to learn the types of details which were very elaborately and scientifically described in the knowledge was derived from direct knowledge i.e. clairvoyance or omniscience while today our knowledge is indirectly derived through sense with usage of argument/hypothesis to establish a fact hence the theories keep on getting udated. It is also important to note that the scientific aspects formed and essential part of texts since description of universe is incomplete without it.

Jainism describes six primary entities (Dravya) which constitute the universe. They are Jīva or the soul, pudgala which is matter and has the properly of associating and disassociating. The description does not end here. The reason in very important. One cannot properly realise the soul unless he knows all the rest of the non soul along with their characteristics so that he does have any doubts in his mind and he can understand the reasons for the bondage of the soul. It continues now to describes the entities Dharmāstikāya and Adharmāstikāya which are quite unique and contrary to popular use of these words. The first one is defned as medium of motion like water for the fish, and the second one is described as the one which permits rest like the shade of the tree provides to the traveler. If one looks at them, one wonders why such entities were described at all. But they underline the scientific aspect of Jainism. The closest one identifies Dharmāstikāya is to Ether in modern day terminology for defining the medium through which electro magnetic waves traverse. Although concept of Ether has been discarded now, but the fact is such a medium does exist which provides for the transmission of electromagnetic waves hence concept of Dharmastikya is very much valid. Similarly Adharmastikaya is analogous to modern gravitational field which ensures the stability of the universe keeping it at rest.

The remaining two dravyas are no less interesting. One is kāla or time. While practical time is measured in hours and minutes, there is a real time which is described as occupying the entire universe like jewels at each spatial point individually. The beauty is that the kāla is not same at any two points (which is true!) and they are independent catalytic agents for manifestation of matter and soul. The last is ākāśa which is space and which is further divided into two as lokākāśa (universal space) and alokākāśa (infinite space). The lokakasha is bounded containing all souls and matter which is surrounded by infinite alokākāśa which does not support any matter or even time. Albert Einstein had also postulated the space to be bounded and not infinite since infinite space cannot sustain the energy. It is very interesting to know that the lokakasha perfectly fits his definition of bounded universe. The alokakasha is infinite which does not support any matter or even hence is unbounded like the postulation of Einstein!

Returning back to Jīva and Pudgala we would find no less surprising revelations. The Jīva exists in vegetables, plants etc. was told long before Prof. Basu proved it. The parmanu or the atom occupies infinitesimal space and joins with other permāṇus to create

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

skandha or molecules. It is interesting to note that the rules for joining of atoms are dependent on its dryness or wetness and the difference of them having a certain number which is so analogous to today's terminology of positive and negative charge! However the real surprise lies in telling that the jiva as well as pudgala have the property of sharing same space with other jīva and pudgala known as avagāhaṅa property. This is the only way we can explain! This is something which is yet to be explained by scientists.

Law of conservation of energy and matter was declared long back in jainism, so also relatively which forms the foundation of Jainism. The interaction of karma particles to soul for binding and fruitation has been elaborated in detail to explain transmigration. These particles function as particles while binding and on fruitation they give rise to a sort of electromagnetic field which induces further action on the part of the soul, which in turn attracts more particles in the vicinity and their influx leads to binding of them as future karmas. Eight types of karmas with their differnt properties, duration, intensity etc. have all been described very scientificallly.

The purpose of all these description was to explain to the human being, the roles of different entities and how soul was different from all of them which can be realised by only experiencing it and cannot really be described in words. The practical view functions the ladder for reaching the goal wherein when the goal is reached, the ladder is discarded. In the same way, the scientific aspects function as tools for understanding the reality and once the reality is understood, there is no further purpose of practical view since all is known in totality unambiguously. In fact it becomes a hindrance since if one remains absorbed in the practical aspects, one's mind cannot focus on the real self.

Science denotes the knowledge of all knowables which the soul has the capability to know. Hence once he knows the self, he knows all. However, to know the self he has to distinguish himself from non soul and to contemplate on the self spiritually. Therefore he has to bring his attention on to the self starting from the entire universe knowing and discarding it as not his self. Then only he achieves the goal of Mokṣa.

It would to be apt to see what **Albert Einstein** has said upon the subject of science and religion:

"One can have the clearest and most complete knowledge of what is, and yet not be able to deduct from that what should be the goal of our human aspirations."

He has clearly stated that science provides the tool while religion provides the goal.

Both are complementary and they together form the complete entity. The science forms the practical side of knowledge while religion imparts the spiritual side, and they together form the totality of knowledge as it exist in the knowledge of the omniscient.

Received : 18.09.06

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम ट्रस्ट, इन्दौर द्वारा स्थापित

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार

श्री दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम ट्रस्ट, इन्दौर द्वारा जैन साहित्य के सृजन, अध्ययन, अनुसंधान को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से 1992 में कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार की स्थापना की गई है। इसके अन्तर्गत घोषित विषय परिधि के अन्तर्गत विगत 5 वर्षों में प्रकाशित/अप्रकाशित चयनित कृति के लेखक को रू. 25,000/- की नगद राशि, शाल, श्रीफल एवं प्रशस्ति पत्र से सम्मानित किया जाता है। हिन्दी / अंग्रेजी में लिखित कृति का चयन त्रिसदस्यीय निर्णायक मंडल द्वारा किया जाता है।

गत 14 वर्षों से पुरस्कृत विद्वानों एवं उनकी कृतियों का विवरण निम्नवत् है –

1993 संहितासूरि पं. नाथूलाल जैन शास्त्री, इन्दौर, *'प्रतिष्ठा प्रदीप'*

1994 प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन, जबलपुर, ***'The Tao of Jaina Sciences'***

1995 प्रो. भागचन्द्र जैन 'भास्कर', नागपुर
'जैन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व

1996 डॉ. उदयचन्द्र जैन, उदयपुर
'जैन धर्म स्वरूप विश्लेषण एवं पर्यावरण संरक्षण **(अप्रकाशित) एवं**
आचार्य गोपीलाल 'अमर', दिल्ली
'Jaina Solution to the Pollution of Environment (Unpublished)'

1997 अप्रदत्त

1998 प्रो. राधाचरण गुप्त, झांसी, *'जैन गणित* **(अप्रकाशित)'**

1999 डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, इन्दौर, *हिन्दी के जैन विलास काव्यों का उद्भव और विकास*
(वि.सं. 1520-1999 तक) (अप्रकाशित)

2000 डॉ. प्रद्युम्नकुमार जैन, रुद्रपुर, ***'Jaina & Hindu Logic'***

2001 डॉ. संगीता मेहता, इन्दौर
'जैन संस्कृत साहित्य के आलोक में वर्द्धमान महावीर – एक अध्ययन ***(अप्रकाशित)'***

2002 डॉ. अनिलकुमार जैन, अहमदाबाद, *'जीवन क्या है ?'*

2003 प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन, फिरोजाबाद, *समय के शिलालेख एवं चिन्तन प्रवाह*

2004 डॉ. अनेकान्त कुमार जैन, दिल्ली, *दार्शनिक समन्वय की दृष्टिः जैन नयवाद* ***एवं***
डॉ. सुशीला सालगिया, इन्दौर
'जैन विषयवस्तु से सम्बद्ध आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में सामाजिक चेतना'

2005 प्रो. महावीर राज गेलड़ा, जयपुर, ***'Science in Jainism'***

2006 प्रो. नलिन के. शास्त्री, दिल्ली, *'नमामि का सम्पादन'*

वर्ष 2007 के पुरस्कार हेतु जैन धर्म एवं दर्शन की किसी भी विधा पर हिन्दी/अंग्रेजी में लिखित मौलिक प्रकाशित/अप्रकाशित कृति के प्रस्ताव दिनांक 31 अक्टूबर 2007 तक आमंत्रित हैं। प्रकाशित कृति वर्ष 2002 से पूर्व प्रकाशित नहीं होनी चाहिये।

देवकुमारसिंह कासलीवाल — अध्यक्ष

डॉ. अनुपम जैन — मानद सचिव

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जैन तो जैन ही रहेंगे

■ कोकल चन्द जैन *

जीवन की आपाधापी से त्रस्त इंसान ईश्वर और अध्यात्म की शरण में जाकर मन की शांति, सुकून और संतुष्टि खोजना चाहता है। धर्म और अध्यात्म में यही अनुप्राणित होता है। धर्म जोड़ता है। जीने की कला सिखलाता है। साधना का मार्ग है धर्म ! धर्म के मर्म को जाने-समझे बिना सब कुछ बेमानी है।

सौ बात की एक बात ! जैन अगर जैन ही रहें तो इसमें क्या ? बात पते की है।

ऐसे हिन्दू शब्द व हिन्दुत्व की व्याख्या पहले से ही ठीक हुई होती तो किसी तरह के ' वाद' उपस्थित नहीं होते। स्पष्ट, अनुत्तरणीय एवं निर्विवाद व्याख्या विशेष सावधानी की चीज है।

एतद् अपेक्षित एवं विवेचित व्याख्या वेदों के अनुयाइयों, जैन, बौद्ध, सिख, पारसी वगैरह सभी के संबंध में समान रूप से लागू होती है। अतः यदि सर्व समाज और सरकार ईमानदारी के साथ तदनुरूप कार्य-व्यवहार और आचरण करें तो फिर कहना ही क्या ? इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती कि ऐतिहासिकता के साथ-साथ धार्मिक व आध्यात्मिक दृष्टि से सुस्पष्ट, सर्वग्राह्य, तथ्यात्मक व्याख्या में है।

उक्त परिप्रेक्ष्य में 'जैन हिन्दू' ही है लेकिन किस अर्थ में ? शीर्षान्तर्गत ज्ञानोदय 1950 ई. से उद्घृत जाने-माने क्रांतिकारी व चिंतक विनायक दामोदर सावरकर का आलेख विगत दिनों कतिपय पत्रिकाओं में देखने में आया जिसमें प्रबुद्ध लेखक द्वारा किंचित अपेक्षा-विशेष से यह बात प्रतिभासित करते हुए टिप्पण करने का उपक्रम किया गया है।

जो भी हो, शाब्दिक परिभाषाओं , व्याख्याओं, मान्यताओं, अपेक्षाओं, नजरिए, टिप्पणी वगैरह के प्रतिपादन में इतर मन्तव्यों अथवा निष्कर्षों इत्यादि का प्रभावित होना स्वाभाविक बात हो जाती है ।

प्राचीन काल से ही हिन्दुत्व की सुस्पष्ट व्याख्या प्रतिपादित नहीं हो पाई। इसमें हिन्दू धर्म का अर्थ हिन्दुत्व ही मान लिया जाना तथा वैदिकों द्वारा हिन्दू शब्द को आत्मसात कर लिया जाना बड़े कारक रहे हैं।

हिन्दू शब्द मूलतः देशवाचक है। इस प्रकार के हिन्दू शब्द का अर्थ धर्मनिष्ठ न होकर देशनिष्ठ अथवा राष्ट्रनिष्ठ होता है। यह कि शब्दावली के गूढ़ार्थ अथवा व्याख्या के जरिए सुदीर्घ अर्से से प्रचलित एवं बहु-प्रचारित मान्यताओं व अवधारणा को अनायास ही बदल दिया जाना कोई सहज संभाव्य काम नहीं। धर्म-परिवर्तन के सवाल को लेकर गुजरात के मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी द्वारा गुजरात विधानसभा से प्रस्ताव पास करा लिया जाना ! यह संशोधन संविधान पर प्रहार और समाज को साम्प्रदायिक रेखा में विभाजित करने का प्रयास है। जैन और बौद्धों को हिन्दुओं की एक शाखा बताना दो स्वतंत्र धर्मों के अस्तित्व को चुनौती देने जैसा है। यह संशोधन संविधान के अनुच्छेद 25 के अन्तर्गत धर्म के स्वतंत्राता के मूलभूत अधिकार के विरूद्ध कार्य है।

यह संशोधन सारहीन और औचित्य से परे है। जैन समाज में भारी आक्रोश है। इस सम्बन्ध में भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, अखिल भारतीय दिगम्बर जैन महासभा, दिगम्बर जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महासमिति, परिषद एवं अन्य संगठनों व संस्थाओं के द्वारा पुरजोर तरीके से गुजरात के राज्यपाल नवलकिशोर शर्मा तथा मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी को विरोध दर्ज कराया गया है। ऐसे गम्भीर विवादास्पद प्रकरण के सिलसिले में भारत के राष्ट्रपति महोदय का दखल वांछनीय है तथा इसे अदालत में चुनौती दिया जाना भी विचारणीय हो जाता है।

कहना न होगा कि उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति श्री एच. बी. सिन्हा और न्यायमूर्ति श्री दलवी भण्डारी की दो सदस्यीय खण्डपीठ ने उत्तर प्रदेश के एटा जिले में जैन समुदाय के कन्या जूनियर हाई-स्कूल में शिक्षक की सेवाएं समाप्त करने से संबंधित मामले में यह व्यवस्था दी है कि **जैन धर्म हिन्दू का हिस्सा नहीं है,** तथा इस समुदाय को अपने शिक्षण संस्थान स्थापित करने और संचालन का अधिकार है।

प्रासंगिक रूप से व्याख्या में दिगम्बरत्व की पुनर्स्थापना के सिलसिले में एक ऐतिहासिक सच्ची घटना का उल्लेख ! बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशकों के दौरान जैनत्व के अस्तित्व, आस्था एवं संत-परम्परा के निर्वहन हेतु दिगम्बराचार्य चरित्रचक्रवर्ती शान्तिसागरजी महाराज की दिगम्बरत्व की महिमा और पुनर्स्थापना में अतुलनीय अवदान स्तुत्य एवं अविस्मरणीय है। प्रशासकीय अवरोध, विषमताओं व प्रतिकूलताओं के बावजूद अहिंसा, साधना व आचरण का संबल व तपश्चर्या के बूते पर एक अनूठी मिसाल कायम हुई।

कुछ भी कहें धर्म पर कानून बनाना सरकार का काम नहीं है क्योंकि यह आस्था और मान्यता का प्रश्न है। यही कि जैन को जैन ही रहने दें, भलाई इसी में है। जैन श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति से पृथक है। धर्म व दर्शन से जुड़े सिद्धान्तों को मुद्दा बनाया जाना कोई अक्लमंदी की बात नही हो सकती। जैनत्व के प्रति प्रतिबद्धता और समर्पण परमाश्वयक है। सारभूत चीज यही है।

प्राप्त : 15.01.07

*** वरिष्ठ पत्राकार**

1-ट-35, जवाहर नगर, जयपुर - 302 004

आमंत्राण

संस्कृति बोध - कला वीथिका के उद्घाटन

एवम्

राष्ट्रीय जैन विद्या संगोष्ठी

के द्विदिवसीय (18-19 अक्टूबर 07) कार्यक्रमों में आप इष्ट मित्रों सहित सादर आमंत्रित हैं। विस्तृत कार्यक्रम कार्यालय में उपलब्ध है।

- निवेदक -

देवकुमारसिंह कासलीवाल
अध्यक्ष

डॉ. अनुपम जैन
मानद सचिव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ARHAT VACANA
Kundakunda Jñānapīṭha, Indore

Ego of an Artist :

■ N. Sachdeva *

OSCAR WILDE renowned of rather notorious for ready wit and satire, once, said that he had nothing to declare except his TALENT, when questioned by custom authorities on embarking at American soil, It is difficult to say now as to the context he made this statement to convey that he does not own many wordly possessions viz wealth. He led an infamous but eventful life, always on the verge of poverty. It could also be called an artists ego, which he well deserved.

Broadly speaking an artist includes an author, painter, sculpturer, musician or anyone else pursuing a creative work more as a labour of love than for name, fame or wealth, which are incidental and not the primary objective. The source of inspiration of a true artist is inborn or god gifted. It is believed that the agony of experience of privation, pain, poverty, touch and more intensely than to a person with full stomach. World history provides no examples of wealthy artists. Wealth have always been no doubt, the patrons of art. This phenomenon seems to have given birth to an artist's EGO as compensation. No one can grudge of it.

Present day artists are more like the craftsmen. A typical example is a film story/script writer, playback singer, the music director, who produce stories and songs to make an order basis to fit the scenario. Likewise writers of text books even fiction now can be included in this classification. This could be better understood by drawing a distinction between artists and craftsmen. Perhaps many true artists have to become craftsmen under compulsion of force of circumstances. Such artist's EGO is generally taller than State Empire (9/11 fame) building in New York.

Recognition and awards are now being bought over as alleged by fellow artists. Now famous artists are among the wealthiest class. Thus, they are not immune to vices of wealth. Incidentally the sportsmen, also now like to be called artists, as it is proved by the recent Cricket scam.

Received : 06.12.05

*** Deolok**
36-B/2, New Palasia,
Opp. Dhobighat, Indore 452001

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानोदय इतिहास पुरस्कार

श्रीमती शांतिदेवी रतनलालजी बोबरा की स्मृति में श्री सूरजमलजी बोबरा, इन्दौर द्वारा स्थापित ज्ञानोदय फाउण्डेशन के सौजन्य से कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर द्वारा ज्ञानोदय पुरस्कार की स्थापना 1998 में की गई है। यह सर्वविदित तथ्य है कि दर्शन एवं साहित्य की अपेक्षा इतिहास एवं पुरातत्व के क्षेत्र में मौलिक शोध की मात्रा अल्प रहती है। फलतः यह पुरस्कार जैन इतिहास के क्षेत्र में मौलिक शोध को समर्पित किया गया है। इसके अन्तर्गत जैन इतिहास के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ शोध पत्र/पुस्तक प्रस्तुत करने वाले विद्वान् को रुपये 11000/-की नगद राशि, शाल एवं श्रीफल से सम्मानित किया जाता है।

अद्यतन पुरस्कृत विद्वानों एवं उनकी कृतियों का विवरण निम्नवत् है–

1998 **डॉ. शैलेन्द्र रस्तोगी, लखनऊ (उ.प्र.)**
'जैन धर्म कला प्राण ऋषभदेव और उनके अभिलेखीय साक्ष्य'

1999 **प्रो. हम्पा नागराजैय्या, बैंगलोर (कर्नाटक)**
'A History of the Rāṣṭrakūtas of Malkhed and Jainism'

2000 **डॉ. अभयप्रकाश जैन, ग्वालियर (म.प्र.)**
'जैन स्तूप परम्परा'

2001 **श्री सदानन्द अग्रवाल, मेण्डा रोड़ (उड़ीसा)**
'खारवेल'

2002 **डॉ. जी. जवाहरलाल, तिरुपति (आ.प्र.)**
'Jainism in Andhra (As depicted in inscriptions)'

2003 **श्री रामजीत जैन एडवोकेट, ग्वालियर (म.प्र.)**
'गिरनार माहात्मय'

2004 **प्रो. ए. इकम्बरानाथन, चेन्नई (तमिलनाडु)**
'Jaina Iconography in Tamilnadu'

2005 **श्री सूरजमल खासगीवाला, *भिवन्डी (महाराष्ट्र)***
'जैन इतिहास'

2006 **ब्र. संदीप जैन 'सरल', *बीना***
'पांडुलिपि संरक्षण एवं संकलन कार्य हेतु'

कोई भी व्यक्ति पुरस्कार हेतु किसी लेख या पुस्तक के लेखक के नाम का प्रस्ताव (सामग्री सहित) प्रेषित कर सकता है। चयनित कृति के लेखक को रु. 11000/- की राशि, शाल, श्रीफल एवं प्रशस्ति प्रदान की जायेगी। साथ ही चयनित कृति के प्रस्तावक (कृति सहित प्रस्ताव भेजने वाले) को भी रु. 1000/- की राशि से सम्मानित किया जायेगा।

2007 के पुरस्कारों हेतु प्रस्ताव सादे कागज पर एवं सम्बद्ध कृति/आलेख के लेखक तथा प्रस्तावक के सम्पर्क के पते, फोन नं. सहित 31 अक्टूबर 2007 तक मानद सचिव, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, 584 महात्मा गांधी मार्ग, तुकोगंज, इन्दौर – 452 001 के पते पर प्राप्त हो जाना चाहिये।

जैन विद्याओं के अध्ययन/अनुसंधान में रूचि रखने वाले सभी विद्वानों/ समाजसेवियों से आग्रह है कि वे विगत 5 वर्षों में प्रकाश में आये जैन इतिहास/पुरातत्त्व विषयक मौलिक शोधकार्यों के संकलन, मूल्यांकन एवं शोधकों को सम्मानित करने में हमें अपना सहयोग प्रदान करें।

देवकुमारसिंह कासलीवाल	**सूरजमल बोबरा**	**डॉ. अनुपम जैन**
अध्यक्ष	पुरस्कार प्रायोजक	मानद सचिव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ARHAT VACANA
Kundakunda Jñānapītha, Indore

Chaos: Order in disorder

■ N. Sachdeva *

Aldous Huxley, a 20th century philosopher, renowned for his radical and unorthodox views, says, "Chance generally knows much better than we do. The Greeks, elected most of their officials by lot. How wisely ! Why should not we toss up for Prime Minister ? We would be much better governed or a short of Calcutta sweep for all the responsible posts in Church and State. The only horror would be if one were to win the sweep (lottery).

The **big Bang** theory about origin of our universe - solar system seems to be chance happening and cannot be explained in terms or 'why' and 'how'. Apparently otherwise, there is an order by system in nature and man has made it into an infallible 'scheme/system' by study of natural phenomena. The movement of stars and planets, laws of physics viz. gravitation. friction, quantum, vaccum and cuase and effect etc. are made into theories and doctrines. This seems obviously logical.

But of late, as late as 1970, James Gleick in his book Chaos - The Amazing Science of the Unpredictable, has made a deeper research and his study reveals that there is occassional random chaos in natural order and it makes our calculations, forecasting subject to error. It is a human trait to take for granted nature as divine and perfect and not subject to any error or mistake. Now attention is being focused on study of chaos. Preliminary studies are encouraging and there is a possibility of orderliness in chaos.

Mathematicians have also studied the working of chance and discovered that chance has a tendency of self balancing and correction over a period of time, large number of operations. This phenomenon is illustrated by tossing of a coin. If a coin is tossed 10 times; the chances are that one may get 6 and 4 or 7 and 3 results. If the number of tosses is increased, this difference has tendency to narrow down under controlled condition. Professional gamblers, even stock market operators play on this theory and there is insignificant loss or gain over a period of time and surely benefited by it by quick decisions.

Likewise, there is an equilibrium in natural happenings viz, floods, excess rainfall, draught, hot and cold weather, storms, cyclones and fair weather. There are inbuilt compensatory causes, until and unless natural balance is

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

disturbed by human operations like deforestation, dam construction, artificial irrigation, reckless mining etc. Floods may destroy standing crops, but in the subsequent years there may be higher yield due to deposit of manure which the flood brings forth. Crops of fields directly hit by hailstorms and get damaged but there is a higher yield in surroundings fields. The grain size and weight increases by extra-ordinary chilling.

The theory of cause and effect seems as the basic of **'Hindu Karma'** Concept and has its application in the physical world. The chance happenings can have remote causes both in time and place according to the author of 'Chaos', the discovery of butterfly effect. He notes that a butterfly thillrma in air today in Peking (China) can transform the same air into storm system next month in New York.

Our present knowledge of occurrence of floods, draught, storm, cyclones, earthquakes and other natural happenings, erupt as epidemics are inherent and remain unexplained and unpredictable.

Perhaps, more research is required to study order in disorder.

Received : 06.12.05

*** Deolok**

36-B/2, New Palasia,

Opp. Dhobighat, Indore 452001

जैन विद्या का पठनीय षट्मासिक

JINAMANJARI

Editor - Dr. S.A. Bhuvanendra Kumar
Periodicity - Bi-annual (April & October)
Publisher - **Brahmi Society, Canada U.S.A.**
Contact - Dr. S.A. Bhuvanedra Kumar
4665, Moccasin Trail,
MISSISSAUGA, ONTARIO
CANADA - 14Z2W5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुस्तक समीक्षा

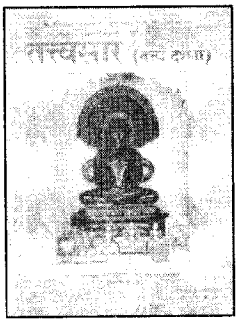

कृति का नाम	:	तत्वदेशना (तत्वसार पर प्रवचनों का संग्रह)
लेखक	:	आचार्य मुनि विशुद्धसागर
सम्पादक	:	मुनि विश्ववीरसागर
संस्करण एवं वर्ष	:	प्रथम, 2005
आकार एवं पृष्ठ संख्या	:	(20'' × 30'')/8, 32 + 154
प्रकाशक	:	श्री पार्श्वनाथ दि. जैन मन्दिर समिति, चिरगाँव (झाँसी)
समीक्षक	:	डॉ. अनुपम जैन, इन्दौर

सम्पूर्ण जैन वांगमय को विषयानुसार विभाजन के क्रम में चार अनुयोगों में विभाजित किया जाता है।

1. **प्रथमानुयोग** - तीर्थंकर आदि 63 शलाकापुरूषों का जीवन, पूर्व भव एवं कथा साहित्य।
2. **करणानुयोग** - भूगोल, खगोल, गणित एवं कर्म सिद्धान्त ।
3. **चरणानुयोग** - श्रावकों एवं मुनियों की जीवनचर्या, विधि-निषेध।
4. **द्रव्यानुयोग** - आत्मा, परमात्मा से सम्बद्ध साहित्य।

पूर्वाचार्यों ने अध्यात्म विषयक ग्रंथों की जटिलता एवं इन्हें सम्यक रूप से आत्मसात करने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि के सृजन की दृष्टि से चारो अनुयोगों के स्वाध्याय का एक क्रम निर्धारित किया है जिसके अनुसार प्रथम तीन अनुयोगों का अपेक्षित ज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरान्त द्रव्यानुयोगों के ग्रंथों का स्वाध्याय करने पर ग्रंथ रचनाकार के मनोगत भाव एवं आशय को हम ठीक से हृदयंगम कर पाते हैं। जिस प्रकार पूर्ववर्ती कक्षाओं के विषय का ज्ञान न होने पर छात्र उत्तरवर्ती कक्षाओं का विषय नहीं समझ पाता है उसी प्रकार प्रथमानुयोग में वर्णित महापुरूषों के जीवन प्रसंगों, करणानुयोग में विवेचित लोक के स्वरूप, स्वर्ग-नरक की व्यवस्थाओं एवं कर्म सिद्धान्त की वैज्ञानिकता, सूक्ष्मता के बगैर मानव जीवन के विधि-निषेधों पर आस्था नहीं बनती । फलस्वरूप अध्यात्म के विवेचनों में भी हम तर्क के बजाय कुतर्क करने लगते हैं। पाप -पुण्य, निमित्त-उपादान, निश्चय -व्यवहार, हेय-उपादेय के विषयों को उनके सही परिप्रेक्ष्य में समझने पर ही पूर्वाचार्यों के मंतव्य को आत्मसात करना शक्य है।

विक्रम की प्रथम शताब्दी के महान दिगम्बर जैनाचार्य कुन्दकुन्द की कृतियाँ समयसार, प्रवचनसार, नियमसार एवं पंचास्तिकाय अध्यात्म के सिरमौर ग्रंथ हैं। इनमें आत्मा को परमात्मा बनाने का श्रेष्ठ ज्ञान अपने उत्कृष्ट रूप में निहित है किन्तु इस ज्ञान को और अधिक स्पष्ट रूप से व्याख्यायित करने के लिए इन ग्रंथों पर टीकाओं तथा स्वतंत्र ग्रंथों का सृजन परिवर्ती आचार्यों द्वारा किया गया। आत्म कल्याण की उत्कृष्ट भावना से अनुप्राणित होकर तिल -तुष मात्र का परिग्रह छोड़ने वाले शान्त परिणामी जैनाचार्यों की सर्वाधिक अभिरूचि सदैव से अध्यात्म के ग्रंथों में रही है। दसवीं शताब्दी ईसवीं के आचार्य देवसेन (गणि)ने निम्नांकित 6 ग्रंथों का सृजन किया है।

1. दर्शनसार 2. भावसंग्रह 3. आलाप पद्धति
4. लधुनयचक्र 5. आराधनासार 6. तत्वसार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्री विशुद्धसागरजी की प्रस्तुत कृति तत्व देशना का आधार उक्त तत्वसार ग्रंथ है। तत्वसार की 74वीं गाथा निम्नवत् है। -

सोउण तच्चसारं रइयं मुणिणाह देवसेसेण ।
जो सद्दिदिट्ठ भावइ तो पावई सासयं सोक्खं ।।

जो सम्यग्दृष्टि, मुनिनाथ देवसेन के द्वारा रचित इस तत्वसार को सुनकर उसकी भावना करेगा वह शाश्वत सुख को पाएगा।

इससे स्पष्ट है कि तत्वसार आचार्य देवसेन की अध्यात्म विषयक कृति है। डॉ. नेमिचंद्र शास्त्री (तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-2) ने विस्तृत उहा-पोह के उपरान्त आपका सरस्वती आराधना काल 933-953 ई. निर्धारित किया है एवं आपको आचार्य विमलसेन गणि का शिष्य बताया है। अन्य कृतियों से आपका नाम देवसेन गणि भी प्रतीत होता है।

भाषा भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। जैनाचार्यों ने प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश तीनों भाषाओं में विपुल परिमाण में साहित्य का सृजन किया। प्राकृत एवं अपभ्रंश तत्कालीन जन भाषायें रहीं एवं संस्कृत अभिजात्य वर्ग की भाषा। अत: शास्त्रार्थ एवं विद्वत् समुदाय में अपने मत को समीचीन रूप से प्रस्तुत करने हेतु संस्कृत में साहित्य सृजन जरूरी था तथा जन-जन तक अपना मंतव्य प्रेषित करने हेतु प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं में भी। जहाँ जैन परम्परा के मूल ग्रंथ महावीर कालीन जनभाषा प्राकृत में हैं वहीं उत्तरवर्ती काल में राजस्थान के विद्वानों ने तत्कालीन जनभाषा ढुंढारी में भी साहित्य का सृजन किया। 19वीं शताब्दी में परिष्कृत हिन्दी के प्रचार से पूजा एवं भक्ति साहित्य तो परिष्कृत हिन्दी में लिखा गया किन्तु आगम ग्रंथों की ढुंढारी भाषा की टीकाएं/व्याख्यायें ही चलती रही। 20वीं शताब्दी में जैन साहित्य में क्रांति आई जब अनेक ग्रंथों के हिन्दी अनुवाद हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय -मुम्बई, माणिकचन्द ग्रंथमाला -मुम्बई, जैन संस्कृति संरक्षक संघ - शोलापुर एवं भारतीय ज्ञानपीठ-दिल्ली के माध्यम से प्रकाश में आये। अन्य अनेक प्रकाशन संस्थाओं का योगदान भी सराहनीय रहा। इन कृतियों के प्रकाश में आने से हिन्दी, श्रावक भी विषय को ठीक से हृदयंगम कर सके। आज यदि भारत में 1000 के लगभग पिच्छीधारी दिगम्बर मुनि, आर्यिका, ऐलक,क्षुल्लक, क्षुल्लिका, विहार कर रहे हैं, स्वाध्याय एवं ज्ञानार्जन के माध्यम से अपने वैराग्य को वृद्धिंगत कर रहे हैं तो इसमें प्राचीन आचार्य प्रणीत ग्रंथों के उपलब्ध हिन्दी अनुवादों की भी महत्वपूर्ण भूमिका को नकारा नही जा सकता ।

प्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य श्री विरागसागरजी महाराज के सुशिष्य युवा एवं प्रभावक संत आचार्य श्री विशुद्धसागरजी ने प्राकृत भाषा की 74 गाथाओं में निबद्ध आचार्य देवसेन (गणि)(10वीं श.ई.) की आध्यात्मिक कृति तत्वसार पर विदिशा (म.प्र.) में सम्पन्न ग्रीष्मकालीन वाचना में 49 सारगर्भित प्रवचन दिये। जिसमें गूढ रहस्यों को अनेक इतर ग्रंथों के उद्धरणों के माध्यम से स्पष्ट किया गया। प्रस्तुत कृति इन प्रवचनों का ही संकलन है।

कृति के प्रारंभ में ही आप रेखांकित करते हैं कि -

एक गूढ़वादी के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह बहुत बड़ा विद्वान हो और न वर्षों तक व्याकरण तथा न्याय में सिर खपाकर वह सुयोग्य बनने का प्रयत्न करता है किन्तु मानव समाज को देख आत्म साक्षात्कार का अनुभव ही उसे उपदेश देने के लिए प्रेरित करता है और व्याकरण आदि के नियमों पर विशेष विचार किये बिना जनता के सामने वह अपने अनुभव रखता है अत: उच्चकोटि की रचनाओं में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयुक्त की जाने वाली भाषा को छोड़कर समय की प्रचलित भाषा को अपनाना महत्व से खाली नहीं है। यह कथन विषय की विवेचना में जनभाषा के महत्व को दर्शाता है।

गाथा क्रमांक 4 पर दिये गये चतुर्थ प्रवचन (पृ. 10-12) में आपने पंच परमेष्ठी की आराधना, मंत्रों के विभिन्न प्रकार आदि के बारे में द्रव्य संग्रह, श्रावकाचार आदि के माध्यम से सरल, सुबोध शैली में विवेचन किया है।

गाथा क्रमांक 5 की विवेचना में उदाहरण के माध्यम से विषय को स्पष्ट करने की शैली देखिये।

जब तक भोगाभिलाषा अंतरंग में विद्यमान है, तब तक योग-धारण संभव नहीं है। यदि किसी ने द्रव्य भेष को स्वीकार भी कर लिया, तो वह सफल नहीं हो सकेगा।

आचार्य योगेन्द्र देव ने परमात्म प्रकाशजी ग्रंथ में लिखा है- जिसके हृदय में मृगलोचनी स्त्री निवास कर रही है, वहाँ ब्रम्ह-निवास कहाँ ? कारण **एक म्यान में दो तलवारें नहीं रखी जाती, एक ही समय में दो मौसम नहीं होते। उसी प्रकार एक ही साथ आत्मानुभव एवं विषयानुभव नहीं होता, एक समय में एक ही उपयोग हुआ करता है।**

कर्मबन्ध की चर्चा तो बहुत होती है किन्तु अशुभ कर्मों के उदय में आते ही पुराने स्वाध्यायी भी विचलित हो जाते हैं ऐसे ज्ञानी बन्धुओं को मोक्ष का पथ दिखाते हुए गाथा 51 के प्रवचन में मुनिश्री सचेत करते हुए कहते है। **भो चेतन ! तू क्यों विलख रहा है जो कर्म का बन्ध तुमने पूर्व में किया था वह आज उदय में आकर खिर गया, प्रसन्न हो जाओ कि आज मैं हल्का हो गया।** (पृ. 111-112)

भो ज्ञानी ! कर्म के फल को भोगते समय न राग करो, न द्वेष करो। जो कर्म के विपाक में राग-द्वेष नहीं करता, वह पूर्व-संचित कर्म का विनाश कर देता है एवं नये कर्म का बन्ध नहीं करता। यदि राग द्वेष करते रहोगे तो कभी मोक्ष नहीं होगा, क्योकि पूर्व में कर्म नष्ट तो हुए परन्तु नवीन कर्म का बंध हो गया। जो मुमुक्षु जीव होता है वह पूर्व को तो नाश करता है और वर्तमान में किवाड़ बन्द कर लेता है, इसी का नाम संवर है। संवर सहित निर्जरा मोक्ष -मार्ग में प्रयोजन भूत है और संवर से रहित निर्जरा मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं है। संवर एवं निर्जरा की प्राप्ति बिना तपस्या के संभव नहीं है। आचार्य भगवन् उमास्वामी महाराज ने तत्वार्थ सूत्र में कहा है- **'तपस्या निर्जरा च'**, तप से निर्जरा भी होती है और संवर भी होता है। इसलिए हे मनीषियों ! संवर की ओर बढ़ों, निर्जरा की ओर बढ़ो, आस्रव को छोड़ो। आस्रव हेय तत्व है, संवर -निर्जरा उपादेय तत्व है।

भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार है। गाथा 54-56 पर प्रवचन करते हुए किया गया प्रयोग देखिये।

भोगी और योगी में इतना ही अंतर होता है। भोगी पर को दोष देता है और योगी कर्म विचित्रता कहके स्व में प्रवेश कर जाता है। भोगी जलता ही जलता जाता है और योगी जलते हुए भी जल बन जाता है। (पृ. 118)

भक्ति के महत्व को आपने गाथा क्र. 73 की विवेचना में अत्यन्त सुन्दर रूप में व्यक्त किया है।

ध्यान रखना जीवन में, भगवान में चमत्कार नहीं होता, प्रतिमाओं में चमत्कार नहीं होता बल्कि जितनी निर्मल एवं विशुद्ध भावों से भक्ति की जाती है, आपकी वह भक्ति मनीषियों ! चमत्कार बन जाती है। (पृ. 148)

संक्षिप्ततः इस महान कृति पर किये गये मर्मस्पर्शी प्रवचनों का संकलन जैन साहित्य की अमूल्य निधि है। जटिल विषय को प्रामाणिकता की रक्षा करते हुए सरल, सहज, सुबोध रूप में प्रस्तुत कर मुनिश्री ने स्वाध्याय रसिकों पर महान उपकार किया है। कृति पठनीय एवं संकलनीय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर का प्रकल्प

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुस्तकालय

आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि महोत्सव वर्ष के सन्दर्भ में 1987 में स्थापित कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ ने एक महत्वपूर्ण प्रकल्प के रूप में भारतीय विद्याओं, विशेषत: जैन विद्याओं, के अध्येताओं की सुविधा हेतु देश के मध्य में अवस्थित इन्दौर नगर में एक सर्वांगपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थालय की स्थापना का निश्चय किया।

हमारी योजना है कि आधुनिक रीति से दाशमिक पद्धति द्वारा वर्गीकृत किये गये इस पुस्तकालय में जैन विद्या के किसी भी क्षेत्र में कार्य करने वाले अध्येताओं को सभी सम्बद्ध ग्रन्थ / शोध पत्र एक ही स्थल पर उपलब्ध हो जायें। इससे जैन विद्याओं के शोध में रूचि रखने वालों को प्रथम चरण में ही हतोत्साहित होने एवं पुनरावृत्ति को रोका जा सकेगा।

केवल इतना ही नहीं, हमारी योजना दुर्लभ पांडुलिपियों की खोज, मूल अथवा उसकी छाया प्रतियों / माइक्रो फिल्मों के संकलन की भी है। इन विचारों को मूर्तरूप देने हेतु दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम, 584, महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर पर कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुस्तकालय की स्थापना की गई है। इसी वर्ष डॉ. अजितकुमारसिंह कासलीवाल के प्रयासों से पुस्तकालय भवन का विस्तार एवं हजारों दुर्लभ पुस्तकों का संकलन जोड़ा गया है। 31.08.2007 तक पुस्तकालय में 20,080 महत्वपूर्ण ग्रन्थों एवं 550 पांडुलिपियों का संकलन हो चुका है। इसके अतिरिक्त हमारी सहयोगी संस्था अमर ग्रंथालय में 1002 पांडुलिपियाँ सुरक्षित हैं। अब उपलब्ध पुस्तकों की समस्त जानकारी कम्प्यूटर पर भी उपलब्ध है। फलत: किसी भी पुस्तक को क्षण मात्र में ही प्राप्त किया जा सकता है। हमारे पुस्तकालय में लगभग 300 पत्र – पत्रिकाएँ भी नियमित रूप से आती हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं।

आपसे अनुरोध है कि –

संस्थाओं से : 1. अपनी संस्था के प्रकाशनों की 1 – 1 प्रति पुस्तकालय को प्रेषित करें।

लेखकों से : 2. अपनी कृतियों की सूची प्रेषित करें, जिससे उनको पुस्तकालय में उपलब्ध किया जा सके।

3. जैन विद्या के क्षेत्र में होने वाली नवीनतम शोधों की सूचनाएँ प्रेषित करें।

दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम परिसर में ही अमर ग्रन्थालय के अन्तर्गत पुस्तक विक्रय केन्द्र की स्थापना की गई है। पुस्तकालय में प्राप्त होने वाली कृतियों का प्रकाशकों के अनुरोध पर बिक्री केन्द्र पर बिक्री की जाने वाली पुस्तकों की नमूना प्रति के रूप में भी उपयोग किया जा सकेगा। आवश्यकतानुसार नमूना प्रति के आधार पर अधिक प्रतियों के आर्डर भी दिये जायेंगे।

जैन पांडुलिपियों की राष्ट्रीय पंजी निर्माण परियोजना तथा राष्ट्रीय पांडुलिपि मिशन के तहत म.प्र. के जैन शास्त्र भंडारों में संग्रहीत पांडुलिपियों की जानकारी भी यहाँ उपलब्ध है।

देवकुमारसिंह कासलीवाल	**डॉ. अनुपम जैन**	**डॉ. अजित कासलीवाल**
अध्यक्ष	मानद सचिव	कोषाध्यक्ष
	31.08.2007	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुस्तक समीक्षा

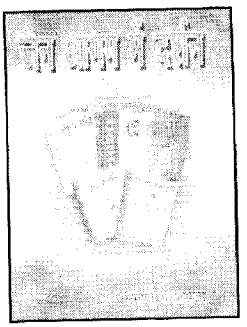

कृति	:	जैन आगम में दर्शन
लेखका	:	समणी मंगलप्रज्ञा, कुलपति-जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूँ (राज.)
प्रकाशक	:	जैन विश्व भारती, लाडनूँ - 341306
संस्करण एवं वर्ष	:	प्रथम, जून 2005
मूल्य	:	रू.125=00
पृष्ठ संख्या	:	XII + 330
समीक्षक	:	डॉ. अनुपम जैन, प्राध्यापक-गणित, शासकीय होलकर विज्ञान महाविद्यालय, इन्दौर

समीक्ष्य शोधपूर्ण कृति आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी की सुशिष्या एवं जैन दर्शन की गहन अध्येता समणी मंगलप्रज्ञाजी का शोध प्रबन्ध है। मूलत: **'जैन आगमों के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य'** शीर्षक से लिखा गया यह Ph.D. शोध प्रबन्ध ही परिवर्तित संक्षिप्त शीर्षक से प्रकाशित है। इसमें निम्नांकित 7 अध्याय हैं।

1. विषय प्रवेश
2. आगम साहित्य की रूपरेखा
3. तत्व मीमांसा
4. आत्म मीमांसा
5. कर्म मीमांसा
6. आचार मीमांसा
7. आगमों में प्राप्त जैनेतर दर्शन

लेखिका ने व्यापक दृष्टि अपनाते हुए सम्प्रदायातीत विचार व्यक्त किये हैं विषय प्रवेश (पृ.21) में ही वे लिखती हैं **'कतिपय कारणों से जैन धर्म बहुत समय पूर्व ही दो मुख्य सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था। वह विभाजन आज भी यथावत है। इस विभाजन का एक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम यह हुआ कि पूरा जैन वांगमय भी दो भागों में विभक्त हो गया।'**

प्रथम अध्याय में आपने आगम साहित्य का तथ्य परक, तटस्थ एवं विस्तृत परिचय दिया है। पृ. 31 पर आप लिखती हैं कि **'श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार ग्यारह अंग आंशिक रूप में उपलब्ध हैं। बारहवां अंग दृष्टिवाद सर्वथा लुप्त हो गया है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार ग्यारह अंग सर्वथा लुप्त हो गए, बारहवें दृष्टिवाद का कुछ अंश बचा है, दोनों परम्पराओं का आगम उपलब्धि की दृष्टि से समन्वय करके देखें तो प्राप्त होता है कि बारह ही अंगों का कुछ न कुछ भाग वर्तमान में भी उपलब्ध है। यह जैन परम्परा के लिये गौरव की बात है।'**

वास्तव में श्वेताम्बर परम्परा का वर्तमान उपलब्ध आगम साहित्य मुख्यत: पाँचवी वाचना का प्रतिफल है। उस समय का संकलन वैचारिक मतभेद होने के कारण परिवर्तित, परिवर्द्धित रूप में ही उपलब्ध है। मतभेद के बिन्दुओं के अलावा अन्य बहुत सी सामग्री तो मूल रूप में ही उपलब्ध है जो भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्व मीमांसा के अन्तर्गत काल द्रव्य की विवेचना करते हुए आप लिखती हैं कि 'जैन परम्परा में काल के सन्दर्भ में 2 अवधारणायें मिलती है – (पृ. 136 पर)

I. काल स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। वह जीव एवं अजीव की पर्याय मात्र है।

II. काल स्वतंत्र द्रव्य है। अर्द्धसमय के रूप में उसका पृथक् उल्लेख है।

आचार्य महाप्रज्ञ इन दोनों अवधारणाओं की संगति अनेकान्त के आधार पर करते हैं। उनका मानना है कि 'काल छह द्रव्यों में एक द्रव्य भी है और जीव-अजीव की पर्याय भी है। वे दोनों कथन सापेक्ष हैं, विरोधी नहीं। निश्चयदृष्टि में काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहारिक दृष्टि में वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है। वह परिणमन का हेतु है, यही उसका उपकार है। इसी कारण वह द्रव्य माना जाता है।'

अध्याय-6 में आपने अपरिग्रह को समझाते हुये लिखा है (पृ. 277 पर) कि-

'अनाग्रह या अनेकांत अहिंसा का वैचारिक आधार है। इसी प्रकार अहिंसा का सामाजिक आधार अनासक्ति या अपरिग्रह है। व्यक्तिगत जीवन में जिसे अनासक्ति कहते हैं, सामाजिक जीवन में वही अपरिग्रह हो जाता है। व्यक्तिगत जीवन में आसक्ति दो रूपों में अभिव्यक्त होती है-परिग्रह-भाव और भोग-भावना, जिनके वशीभूत होकर व्यक्ति दूसरों की वस्तुओं का अपहरण करता है। इस प्रकार आसक्ति तीन रूपों में बाह्य-स्तर पर अभिव्यक्त होती है-

1. अपहरण या शोषण।
2. आवश्यकता से अधिक परिग्रह।
3. भोग।

केवल हत्या या रक्तपात ही हिंसा नहीं है, परिग्रह भी हिंसा ही है क्योंकि हिंसा के बिना परिग्रह असंभव है। संग्रह के द्वारा दूसरों के हितों का हनन होता है और इस रूप में परिग्रह हिंसा है। अपरिग्रह बाह्य अनासक्ति है, अनासक्ति आन्तरिक अपरिग्रह है।'

इसी प्रकार अन्य अध्यायों में आपने प्रामाणिक, ससन्दर्भ, समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए दार्शनिक सिद्धान्तों का सरल शब्दों में विशद विवेचन प्रस्तुत किया है।

लेखिका का श्रम एवं गहन गम्भीर अध्ययन यत्र-तत्र-सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। कृति जैन दर्शन की किसी भी विधा पर कार्य करने वालों के लिये पठनीय एवं संकलनीय है।

मुद्रण निर्दोष एवं मूल्य उचित है।

अन्तःकरण शुद्धि के पुनीत पर्व

दशलक्षण

के अवसर पर गत वर्ष में हुए समस्त ज्ञात / अज्ञात अपराधों / भूलों हेतु हम सादर क्षमाप्रार्थी हैं।

देवकुमारसिंह कासलीवाल — प्रकाशक

डॉ. अनुपम जैन — सम्पादक

एवं सम्पादक मण्डल के सभी सदस्य

क्षमावाणी, 27.09.07

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ द्वारा संचालित परीक्षा संस्थान के निदेशक पं. नाथूलाल जैन शास्त्री का पूज्य मुनि श्री प्रमाणसागरजी महाराज के सान्निध्य में श्रुत पंचमी (19.06.07) को शीर्षस्थ जैन मनीषी के रूप में इन्दौर में सम्मान किया गया। स्व. पं. श्री का किसी सार्वजनिक कार्यक्रम का यह अन्तिम चित्र है। समीप खड़े हैं डॉ. अनुपम जैन, पं. रतनलाल शास्त्री एवं श्री हेमचंद झांझरी।

वैद्य श्री कपूर चन्द जैन (सुनवाहा वालों) का निधन

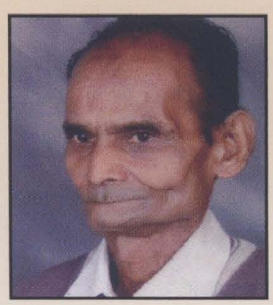

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ की मातृ संस्था दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम ट्रस्ट एवं कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ के प्रबन्धक तथा कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ परीक्षा संस्थान के परीक्षाधिकारी, युवा विद्वान श्री अरविन्द कुमार जैन के पूज्य पिताजी वैद्य श्री कपूरचंद जैन (सुनवाहा वालों) का देहावसान शान्त परिणामों सहित सल्लेखना के व्रत धारण कर दिनांक 19.09.07 को इन्दौर में हो गया।

80 वर्षीय वैद्य जी दृढ़ संकल्पी, गुरू भक्त, तीर्थ भक्त सुश्रावक थे। आपने सुनवाहा के दिगम्बर जैन मन्दिर का जीर्णोद्धार कराने के साथ ही असाहय रोगों से पीड़ित जनों को दुर्लभ जड़ी बूटियों से निर्मित औषधियाँ नि: शुल्क वितरित करने का कार्य किया। वे स्वयं जंगलों में जाकर जड़ी-बूटियों का संकलन करते थे।

आप अपने पीछे 4 पुत्र श्री राजकुमार जैन, श्री अरविन्दकुमार जैन, श्री रजनीश जैन एवं श्री अनिल जैन एवं 6 पुत्रियों का भरा पूरा परिवार छोड़ गये।

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ परिवार की विनम्र श्रद्धांजलि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

RNI No.: 50199/88

I.S.S.N. 0971 - 9024

वर्ष – 19, अंक – 3, जुलाई – सितम्बर 2007

अनुक्रम / INDEX

लेख / ARTICLES

संहितासूरि पं. नाथूलाल शास्त्री – विनम्र श्रद्धांजलि 03

☐ अनुपम जैन, इन्दौर

वृक्ष एवं तीर्थंकर 07

☐ नरेन्द्र नमि, भोपाल

शाकाहार बनाम अहिंसकाहार 23

☐ सूरजमल जैन, कोटा

सिद्धवरकूट – कतिपय तथ्य 33

☐ सूरजमल बोबरा, इन्दौर

जैन धर्म में स्वस्तिक (सांथिया) 37

☐ जया जैन, ग्वालियर

जैन धर्म : तत्कालीन ऐतिहासिक सरोकार 41

☐ शिखरचन्द जैन एवं मनोजकुमार जैन, मुरैना

जैन संस्कृति एवं दक्षिण के राजवंश 47

☐ रजनी जैन, इन्दौर

Indore : A Glimpse of Malwa 50

☐ Micheal C. Skinner, Hawai-Hilo U.S.A.

Research Methodology and Nature of Proof :
A Visit to Jainism and Patanjali 65

☐ P.N. Mishra & Pooja Jain, Indore

Scientific Aspects of Jainism 73

☐ Y.K. Jain, Banglore

टिप्पणी / NOTES

जैन तो जैन ही रहेंगे 77

☐ कोकलचन्द जैन, जयपुर

Ego of an Artist 79

☐ N. Sachdeva, Indore

Chaos : Order in Disorder 81

☐ N. Sachdeva, Indore

पुस्तक समीक्षा / Book Review

तत्व देशना द्वारा आचार्य विशुद्धसागर 83

☐ समीक्षक – अनुपम जैन, इन्दौर

जैन आगम में दर्शन द्वारा समणी मंगल प्रज्ञा 87

☐ समीक्षक – अनुपम जैन, इन्दौर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Sugan Graphics, Indore. 9302125594, 4065518